# विश्वभारती पत्रिका

## साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

**सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः ।**

अथेयं विश्वभारती । यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म् । प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः । एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्यः नैकः । विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते । प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः । द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः । एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः । सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते ।



विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—


**संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',**

**हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।**

# विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ७, अंक ३ आश्विन-मार्गशीर्ष २०२३

## विषय-सूची

## इस अंक के लेखक ( अकारादि क्रम से )

कृष्णनंदन दीक्षित 'पीयूष', एम० ए०, पीएच० डी०, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

चन्द्रशेखर प्रसाद, एम० ए०, भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, विश्वभारती , पाली, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं के विद्वान।

दुर्गेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय, एम० ए०, पीएच० डी०, बंगला विभाग, विश्वभारती।

द्विजराम यादव, एम० ए०, रिसर्च स्कालर, हिन्दी-भवन, विश्वभारती।

धीरेनकृष्ण देव वर्म्मा, प्रसिद्ध कलाकार, रीडर, कलाभवन, विश्वभारती।

विनोद बिहारी मुकर्जी, प्रसिद्ध कलाकार तथा कला समीक्षक। अध्यक्ष, कलाभवन, विश्वभारती।

रमेश कुंतल मेघ, एम० ए०, पीएच० डी०, रीडर इंचार्ज, पोस्ट ग्रेजुएट सेंटर इन हिन्दी, दोआबा कालेज, जालंधर, पंजाब।

राजेन्द्र मिश्र, एम० ए०, अध्यापक, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

रामशंकर भट्टाचार्य, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी-भवन, विश्वभारती।

विश्वनाथ भट्टाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी० ( मारबुर्ग ), संस्कृत विभाग, विश्वभारती।

विश्वरूप वसु, अध्यापक, कला-भवन, विश्वभारती।

शिल्पी—अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

# विश्वभारतीपत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०२३ | खण्ड ७, अंक ३ | अक्टूबर-दिसंबर १९६६


## १४०० साल

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आजि हते शतवर्ष परे
के तुमि पड़िछ वसि आमार कविताखानि
कौतूहल भरे,
आजि हते शतवर्ष परे ।
आजि नव वसन्तेर प्रभातेर आनन्देर
लेशमात्र भाग,
आजिकार कोनो फुल, विहंगेर कोनो गान,
आजिकार कोनो रक्तराग—
अनुरागे सिक्त करि पारिव कि पाठाइते
तोमादेर करे
आजि हते शतवर्ष परे ?

तवु तुमि एकबार खुलिया दक्षिणद्वार
बसि वातायने
सुदूर दिगन्ते चाहि कल्पनाय अवगाहि
भेवे देखो मने—
एकदिन शतवर्ष आगे
चञ्चल पुलकराशि कोन् स्वर्ग हते भासि
निखिलेर मर्मे आसि लागे,

नवीन फाल्गुनदिन सकल-बन्धन हीन
उन्मत्त अधीर,
उड़ाये चञ्चल पाखा पुष्परेणुगन्धमाखा
दक्षिण समीर
सहसा आसिया त्वरा राङाये दियेछे धरा
यौवनेर रागे,
तोमादेर शतवर्ष आगे।
सेदिन उतला प्राणे, हृदय मगन गाने,
कवि एक जागे—
कत कथा पुष्पप्राय विकशि तुलिते चाय
कत अनुरागे,
एकदिन शतवर्ष आगे।

आजि हते शतवर्ष परे
एखन करिछे गान से कोन् नूतन कवि
तोमादेर घरे!
आजिकार वसन्तेर आनन्द अभिवादन
पाठाये दिलाम ताँर करे।
आमार वसन्त गान तोमार वसन्त दिने
ध्वनिते हउक क्षणतरे—
हृदयस्पन्दने तव, भ्रमरगुञ्जने नव
पल्लवमर्मरे
आजि हते शतवर्ष परे।

२ फाल्गुन १३०२ [ सन् १८९७ ई० ]

# १४०० साल

## ( हिन्दी छाया )

आज से सौ वर्ष बाद
तुम कौन बैठे मेरी कविता पढ़ रहे हो
कौतूहल से भरे
आज से सौ वर्ष बाद ।
आज के नववसन्त के प्रभात के आनन्द का
लेशमात्र भाग,
आज के किसी फूल, विहंग के किसी गान,
आज के किसी रक्तराग को—
अनुराग में सिक्त करके क्या भेज सकूँगा
तुम्हारे पास,
आज से सौ वर्ष बाद ?
तो भी तुम एकबार दक्षिणद्वार खोलकर
वातायन में बैठकर
सुदूर क्षितिज की ओर देखकर कल्पना में डूब कर
विचारकर मन में देखो—
एक दिन सौ वर्ष पहले
चंचल पुलकराशि ने किस स्वर्ग से उतर कर
निखिल के मर्म का स्पर्श किया था,
नवीन फाल्गुन के दिन सकल बंधनहीन
उन्मत्त अधीर,
पुष्परेणुगंध से सने चंचल पंखों से उड़ते हुए
दक्षिण समीर ने
सहसा आकर शीघ्र धरा को रंग दिया था
यौवन के रंग में
तुमसे सौ वर्ष पूर्व ।

उस दिन आकुल प्राण से गान में मगन हृदय हो,

एक कवि जाग रहा था—

पुष्प के समान भिन्नभिन्न कितना वार्ता को वह चुनना चाहता था

कितने अनुराग से

एकदिन सौ वर्ष पूर्व ॥

आज से सौ वर्ष बाद

इस समय जो गा रहा है वह नया कवि कौन है

तुम्हारे घर में !

आज के वसन्त का आनन्द-अभिवादन

उसके हाथों भेज रहा हूँ।

मेरा वसन्तगान तुम्हारे वसन्तदिन पर

ध्वनित हो क्षण-क्षण—

तुम्हारे हृदयसदन में, नवीनभ्रमर गुंजन में,

पल्लव मर्मर में

आज से सौ वर्ष बाद ॥

# आधुनिक भारतीय चित्रकला

बिनोद बिहारी मुकर्जी

२

( पूर्वांक से आगे )

हैवेल और उनके विरोधियों के बीच जिस समय समाचारपत्रों में वाग्युद्ध चल रहा था तथा जिसमें भारतीय और अंग्रेज़ दोनों ही भाग ले रहे थे, अवनीन्द्रनाथ भारतीय कला के महान् उन्नायक के रूप में सामने आए। सन् १९०२ में दिल्ली में प्रसिद्ध औद्योगिक कला प्रदर्शनी हुई और अवनीन्द्रनाथ की भारत के आधुनिक कलाकारों में महानतम कलाकार के रूप में प्रसिद्धि हुई। जिस समय अवनीन्द्रनाथ यश और सृजनात्मक वृत्ति के उच्चतम शिखर पर थे, वे जापान के प्रसिद्ध कला समीक्षक ओकाकुरा के संपर्क में आए। ओकाकुरा स्वामी विवेकानंद को जापान लिवा ले जाने के लिए भारत आए थे। जापानी कला का पुनर्जागरण ओकाकुरा और फेनोलेसा के प्रयत्नों से संभव हुआ था। ओकाकुरा ने अवनीन्द्रनाथ के नवीन कला प्रयोगों का अनुसरण किया। आधुनिक भारतीय कलाकारों तथा जापानी कलाकारों के बीच सीधा संपर्क स्थापित करने में वे अगुआ बने। कला के क्षेत्र में सुदूर पूर्व आधुनिक भारत के निकट आ गया और साहित्य तथा राजनीति के क्षेत्र में आगे संपर्क बढ़ने का यह आरंभ था। शिक्षित भारतीयों पर ओकाकुरा का प्रभाव कितना गहरा था यह उनके विषय में रवीन्द्रनाथ और अरविंद के कथनों से जाना जा सकता है।

ओकाकुरा संयुक्त एशिया के स्वप्न का सपना देखते थे। उनका दिया हुआ नारा था "एशिया एक है" और पहली बार यह उनकी कृति "आइडियल अव् दी ईस्ट," ( पूर्व का आदर्श ) में प्रयुक्त हुआ। भारतीय कला से जापान का परिचय कराने के लिए ओकाकुरा ने याकोहामा तैकान को भारत भेजा।

ओकाकुरा से अवनीन्द्रनाथ ने सुदूरपूर्व की कला और संस्कृति का परिचय प्राप्त किया था, तैकान से उन्होंने जापान की आधुनिक चित्रकला-शैली सीखी। तैकान भारतीय कला की शिक्षा प्राप्त करने आया था अतः काली, रासलीला जैसे कुछ अभिप्रायों को लेकर उसने चित्र बनाए।

तैकान से भेंट होने के बाद अपनी कृतियों में अवनीन्द्रनाथ ने जापानी चित्रकला की कुछ

विशेषताओं का प्रयोग किया। यह बहुत थोड़े समय तक चला यद्यपि कला समीक्षक प्राय अवनीन्द्रनाथ पर जापानी प्रभाव की बात बढ़ाकर कहते हैं। राधा और कृष्ण के चित्रों से आरंभ करके कलाकार के रूप में हमने अवनीन्द्रनाथ के जीवन की कुछ घटनाओं का संकेत किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हैवेल और ओकाकुरा के प्रभाव ने अवनीन्द्रनाथ की कला और सौंदर्य विषयक दृष्टि को व्यापक बनाया किन्तु इस प्रभाव से उनकी अपनी रुचि और स्वभाव में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ।

अवनीन्द्रनाथ को आज निर्विवाद रूप से आधुनिक भारतीय कला का जनक माना जाता है। भारतीय कला के क्षेत्र म वास्तव मे कुछ उल्लेखयोग्य परिवर्तन अवनीन्द्रनाथ के नए प्रयोगों के बाद ही हुए। उनकी प्रतिभा का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने प्रधानत· अपनी कल्पना और अनुभव के आधार पर ही कला की सृष्टि की। उन्होंने किसी विशेष परपरा या शैली का अंधानुकरण नहीं किया। कला के सृजन में उनकी आत्मा उन्मुक्त थी। इस उन्मुक्तता के फलस्वरूप ही वे पूर्वीय और पश्चिमीय दोनो कला शैलियो की कई विशेषताओं को अपना सके। अद्भुत रग-आदर्श ( कलर पैटर्न ) उन्होंने पश्चिम से ग्रहण किया और उनके चित्रो मे रग-प्रयोग मे पूर्वीय पद्धति से स्पर्शित पश्चिमी नियमों का अनुसरण हुआ है।

पश्चिम के प्रभाव के कारण भारतीय चित्रकला एकदम अ-रेखामय हो गई थी। अवनीन्द्रनाथ ने प्राचीन भारतीय परपरा की सहायता से चित्रकला की भाषा को रेखाप्रधान बना दिया। इस प्रभाव को तथा अवनीन्द्रनाथ की शैली के विकास को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उनकी इन कृतियो को देखना चाहिए तथा उनका विश्लेषण करना चाहिए —राधा कृष्ण से सबधित चित्र, शाहजहाँ की मृत्यु, ओमर खैयाम तथा सहस्ररजनी चरित्र के विषयों से सबधित चित्र।

अवनीन्द्रनाथ के प्रभाव ने उस समय की आधुनिक कला को प्रकृतवाद की शृखलाओं से मुक्त होने में सहायता की। विचार और वस्तुओं के समन्वय पर आधारित कल्पना जगत् का वे निर्माण करना चाहते थे। और इसमें उन्हे पूरी सफलता मिली।

अपने आरंभिक जीवन में उन्होंने साहित्य के सहवर्ती के रूप में कला की सृष्टि करने का प्रयत्न किया किन्तु उन्होंने कला को कभी साहित्य का अधीनस्थ नहीं बनाया। सभव है साहित्य और कला के बीच बढ़ती हुई दरार को अवनीन्द्रनाथ ने पाटने का प्रयत्न किया हो और अपने इस प्रयत्न मे वे स्वच्छदतावादी कहे जा सकते हैं।

साहित्यसह कलाकार के रूप मे उन्होंने आरभ किया था, यह उनके कार्य का प्रारभ था किन्तु क्रमश उनका कार्य अधिकाधिक रूप के प्रति सावधान होता गया। १९२० से १९३० तक की उनकी कृतियों मे रूप के प्रति उनकी अतिरिक्त सावधानी स्पष्ट दिखती है। अपने

जीवन के अंतिम चरण में उन्होंने मूर्तित्वप्रधान चित्र बनाए और अंत में अमूर्त मूर्तियाँ; इन सभी में अवनीन्द्रनाथ की प्रतिभा का स्वरूप देखने को मिलता है। जब अवनीन्द्रनाथ यहाँ कला की आत्मा की खोज में लगे हुए थे, उसी समय यूरोप में अमूर्त कला (एब्सट्रैक्ट आर्ट) का आंदोलन आरंभ हो रहा था। अमूर्त कला से अवनीन्द्रनाथ का कोई संबंध नहीं था। उनके कार्य की शैली की तुलना एक सीमा तक जर्मन अभिव्यंजनावादियों या पीछे के प्रभाववादियों से की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि अवनीन्द्रनाथ ने भारतीय कला में अभिव्यंजना के आदर्श का समावेश किया। उनकी कला प्रेरणा और प्राप्ति की देन है। यह प्राप्ति उनके लिए प्रत्यक्ष अनुभव की अपेक्षा अधिक सत्य थी। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे आगे के युग पर उनके प्रभाव को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

दुर्भाग्य से अवनीन्द्रनाथ के आधुनिक आलोचकों का मत रोजर फ्राय (Roger Fry) और उनके अनुयायियों के लेखों से बहुत अधिक प्रभावित है। प्रसिद्ध आलोचकों के कुछ इधर हाल के लेखों में भी उसी भ्रांत दृष्टिकोण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है जो रोजर फ्राय ने १९१३ में व्यक्त किया था। इन लेखकों ने अवनीन्द्रनाथ की मूल कृतियों को स्वयं देखने का कष्ट नहीं किया।[1] कारण बहुत सरल है। आधुनिक व्यक्ति मूल कलाकृतियों से प्रत्यक्ष परिचित होने की अपेक्षा कला के संबंध में पढ़ना अधिक पसंद करता है। संक्षेप में आधुनिक व्यक्ति कलाकृतियों के व्यक्तिगत प्रत्यक्ष परिचय को कम महत्त्व देता है और इसकी अपेक्षा कला के संबंध में सूचना इकट्ठी करना पसंद करता है।

सहस्ररजनीचरित्र के चित्र १९३० में बनाए; उनसे स्पष्ट होता है कि अवनीन्द्रनाथ का वास्तव में उद्देश्य क्या था? इनमें अवनीन्द्रनाथ ने अपनी कल्पना के सहारे रंग और रूप के जगत् का प्रदर्शन किया है जो उनके जीवन व्यापी अनुभव और व्यक्तित्व की देन है। अपनी कल्पना के माध्यम से उन्होंने अतीत को सदा वर्तमान से मिला दिया है। आधुनिक नगर कलकत्ता और बगदाद के जीवन दोनों मिल गए हैं और एक नए जगत् की सृष्टि हुई है जो न तो वर्तमान का अनुकरण है न अतीत का; आधुनिक युग के लिए यह विरल और अद्भुत है। इस सहस्ररजनी चित्रमाला में अवनीन्द्रनाथ ने बड़े साहस के साथ रूप और रंग के प्रयोग किए हैं। यद्यपि आकार में चित्र छोटे हैं तथापि वे विशालता और स्मारकत्व के गुण का आभास प्रदान करते हैं। इन चित्रों को उदाहरण-मात्र कहना अनुचित होगा। यह रूप सृष्टि है

---

1. इसके विपरीत उदाहरण है डा० स्टेला क्रामरिश का जिन्होंने उनके चित्रों का अध्ययन करके उनकी कला का विवेचन किया है—द्रष्टव्य विश्वभारती क्वार्टर्ली की अवनीद्र संख्या।

जहाँ रूप और स्पर्श गुणों का पूर्ण सन्तुलन और सामंजस्य दिखता है। आधुनिक युग में यह विशेषता प्रायः दुर्लभ है।

कृष्णमंगल और कविकंकण चंडी चित्रमाला के बाद की कृतियों में अवनीन्द्रनाथ का चित्रकार-दृष्टिकोण अधिक रूप प्रधान, स्पर्शमय, और लचीला ( प्लास्टिक ) हो गया था। ये चित्र सहस्ररजनी चित्रमाला के बाद बनाए गए थे। क्या अवनीन्द्रनाथ की कला मूर्तिकला के समान हो गई थी? मानो कलाकार ने अपनी तूलिका से रूप की खुदाई की हो। रंग और रेखाएँ सरल हो गए। उन्होंने प्रकाश और विन्यास के स्थान पर रंग का प्रयोग सृजित रूप को सजीवता प्रदान करने के लिए किया। उनके इन चित्रों में अंकित चरित्रों में प्राणियों के अभिप्राय कला के प्रति उनकी दृष्टि को स्पष्ट करते हैं।

रूढ़ियों से कलाकार अवनीन्द्रनाथ ने अपने को सदा मुक्त रखा। उनकी अपनी बनाई हुई शैली भी उनकी दृष्टि को सीमित नहीं कर सकी। अपने जीवन के अंतिम दिनों में इस स्वच्छंद मन के साथ वे खिलौने और गुड़ियाँ बनाने लगे थे। इन खिलौनों ( काटकूट ) के निर्माण में टूटी डालियाँ, टूटे लोहे के टुकड़े, कीलें, धागे, बीज, धातु के टुकड़े इत्यादि पुरानी चीज़ों का उपयोग करते थे।

इन व्यर्थ की चीज़ों को वे इस प्रकार जोड़ते थे और ऐसा रूप प्रदान करते थे कि जिसमें अच्छी मूर्तिकला के सभी तत्त्व विद्यमान हैं तथा उनमें अपनी पूर्ण स्थिरता है। इन खिलौनों में बौद्धिक संस्पर्श का अभाव है। आधुनिक अर्थों में यह विशुद्ध सृष्टि है। ये खिलौने अपने सन्तुलन और प्रसार में वर्तमान रहते हैं और साथ ही स्थायित्व और कोमलता का बोध कराते हैं।

यह इतिहास का व्यंग्य है कि अवनीन्द्रनाथ को, यद्यपि आधुनिक भारतीय कला का जनक कहा जाता है, उनके तथाकथित अनुयायियों में से कम ने समझने की कोशिश की है और उनसे भी कम ने उनकी कृतियों को देखा है। यह भ्रान्ति इसलिए नहीं है कि अवनीन्द्रनाथ की प्रतिभा में कोई दुर्बोधता है, समकालीन वातावरण तथा कला के क्षेत्रों की रुचि गंभीर अध्ययन के लिए अनुकूल नहीं है। संक्षेप में, वे उत्तेजक नहीं हैं। उनकी कृतियों में गंभीर चिंतन के तत्व हैं। किसी प्रदर्शनी के कक्ष की दीवालों पर देखकर उनके चित्रों का आनंद नहीं लिया जा सकता, न उनकी प्रतिभा को समझा जा सकता है। वे ऐसे कलाकार नहीं हैं जिनकी प्रतिभा का जल्दी में विश्लेषण किया जा सके या शीघ्र जानकारी इकट्ठी की जा सके।

कलकत्ता गवर्मेंट आर्ट स्कूल में १९०५ से १९०९ के बीच ये विद्यार्थी अवनीन्द्रनाथ से

कला की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, नंदलाल वसु, सुरेंद्रनाथ गांगुली, वेंकटप्पा, असितकुमार हाल्दार, समरेंद्रनाथ गुप्त, क्षितीन्द्रनाथ मजुमदार और शैलेन्द्रनाथ दे। अवनीन्द्रनाथ की शिक्षण पद्धति पर भी थोड़ा प्रकाश डालना चाहिए। आर्ट स्कूल में चालू शिक्षण प्रणाली की चर्चा करते हुए हम कह चुके हैं कि उसके शिक्षण में कोई उल्लेखयोग्य विशेषता नहीं थी, केवल कुछ विधिविषयक बातें ही बताई जाती थीं। अवनीन्द्रनाथ ने शिक्षण की कोई विशेष शास्त्रीय पद्धति नहीं प्रस्तुत की। उन्होंने अनुकूल वातावरण की सृष्टि करने तथा स्वतंत्रता को प्रोत्साहित करने पर बल दिया जो एक सृजनशील कलाकार के लिए आवश्यक हैं। इस उदारता के फलस्वरूप थोड़े ही समय में अवनीन्द्र-कला-शैली के नाम से प्रसिद्ध कला के क्षेत्र में प्रचुर वैविध्य दिखाई देने लगा।

अवनीन्द्रनाथ के आदर्श के साथ प्राचीन भारतीय आदर्श को साथ मिला कर पहले पहल एक निश्चित रूप दिया नंदलाल वसु ने। नंदलाल ही पहले कलाकार थे जिनकी कृतियों में हम प्राचीन भारतीय शैली और अलंकरण तत्त्व देखते हैं और यह उनके प्रयास तथा प्रभाव का ही फल है कि भारतीय पद्धतियाँ और उपकरण कलाकारों तथा कलाप्रेमियों में इतने प्रिय हो गए।

नंदलाल ने विविध रूपों और विधियों में प्रयोग किए। बिना किसी संकोच के यह कहा जा सकता है कि उन्होंने पूर्वीय कला के संपूर्ण विस्तार का अध्ययन किया। इस विस्तृत और विविधपक्षीय ज्ञान के होते हुए भी नंदलाल की कृतियाँ सदैव सहज रहीं। रंगों की बहुत ही सीमित परिधि के भीतर उन्होंने कृतियों को रखा है, दिन प्रतिदिन उनके कला-रूप सहजतर होते गए। अपनी प्रौढ़ कृतियों में अलंकरण के सभी तत्त्व उन्होंने छोड़ दिए हैं। इसके स्थान पर उन्होंने भारतीय कला के, विशेषरूप से मूर्तिकला के, स्वरूप को समाविष्ट किया है।—
नंदलाल की प्रतिभा के विकास को समझने के लिए निम्न कृतियों का अध्ययन आवश्यक है :

१. रामायण चित्रमाला
२. उमा का शोक
३. शबरी की प्रतीक्षा
४. स्वर्णघट ( चित्र पट्टिका )
५. उनके भित्तिचित्र

और १९४० के बाद के स्याही के रेखाचित्र।

तुलना करने पर हम कह सकते हैं कि अवनीन्द्रनाथ के चित्रण की गीतात्मक शैली को नंदलाल ने अधिक विषयपरक तथा नाटकीय बनाया। असितकुमार के चित्रों में हमें

इससे बिल्कुल उल्टा दृष्टिकोण मिलता है। असितकुमार के सहयोगियों में से कोई भी रवीन्द्रनाथ से या सामान्य रूप से साहित्य से इतना प्रभावित नहीं हुआ था जितने असितकुमार स्वयं। आधुनिक रूपप्रधान दृष्टिकोण का सारा श्रेय असितकुमार की प्रतिभा को है।

साहित्य में बंगाल के ग्राम्य जीवन को चित्रित करने के अनेक प्रयास हुए हैं। इस प्रकार के प्रयास कला में भी हुए हैं—क्षितीन्द्रनाथ की कृतियों में ऐसे दृश्यों का चित्रण हुआ है। बंगाल की यात्राओं और कीर्तनों के साथ उनकी आत्मीय एकता है और इसलिए आधुनिक समाज या साहित्य के नए प्रयोगों के प्रति वे बिल्कुल उदासीन दिखते हैं, आधुनिक के प्रति उनमें कोई आकर्षण नहीं था इसी के परिणामस्वरूप सहज शैली के माध्यम से वे बंगाल की आत्मा का गहराई से अंकन कर सके। नंदलाल का परंपरानुयायी रूप, असितकुमार की रूपकात्मकता और क्षितीन्द्रनाथ की सरलता तीनों एक होकर अवनीन्द्रनाथ की कला-धारा में मिलते हैं।

इन कलाकारों का बंगाली साहित्य से प्रत्यक्ष संपर्क नहीं था, किन्तु प्रेरणा का स्वरूप कलाकारों तथा साहित्यकार दोनों में बहुत समान था। अवनीन्द्रनाथ ने कला के माध्यम से विचार व्यक्त करने का प्रयत्न किया जब कि नंदलाल ने अपनी प्रारंभिक रचनाओं में, इस काल के बंगला नाटकों में व्यक्त राष्ट्रीय और आध्यात्मिक धाराओं का अनुगमन किया। अवनीन्द्रनाथ के समान इन कलाकारों ने भी योरोपीय शिल्पविधि को अपनाया। उनमें हमें भारतीय कला के रूपों या उसकी शब्दावली के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखता। अवनीन्द्रनाथ के अनुयायियों में से प्रायः प्रत्येक ने कभी न कभी भारतीय कला के अलंकरण तत्त्वों का प्रयोग किया। अपनी कृतियों में उन्होंने सहज, अजटिल रूपों को अपनाया। उनके सामने मुख्य उद्देश्य था भारतीय मस्तिष्क को अभिव्यक्त करना। यही कारण है कि अवनीन्द्रनाथ के प्रारंभिक किसी भी शिष्य में योरोप का कोई उल्लेखयोग्य प्रभाव नहीं दिखता। और नंदलाल को छोड़कर उनमें से—भारतीय कला के प्राविधिक और रूप संबंधी तत्त्वों को समझने का भी प्रयत्न किसीने नहीं किया। जो भी कुछ योरोपीय प्रभाव था वह स्वयं अवनीन्द्रनाथ में था।

ई० बी० हैवेल, वुडरफ, सिस्टर निवेदिता तथा अन्य व्यक्तियों के प्रयास से १९०७ में ओरिएंटल आर्ट सोसायटी की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य था कला के क्षेत्र में हुए नवीन प्रयोगों को राष्ट्रीयता से जोड़ना। इस देश में कला प्रदर्शनियां तथा कला के संबंध में भाषणों की व्यवस्था कराने का भी आरंभ हो रहा था। सोसायटी की स्थापना के कुछ समय बाद ही हैवेल भारत से लौट गए। विदा होने के पूर्व बंगीय साहित्य परिषद् ने उनकी उचित रूप में अभ्यर्थना की।

हैवेल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति 'इंडियन स्कल्पचर एंड पेंटिंग'

( भारतीय मूर्तिकला तथा चित्रकला ) में अवनीन्द्रनाथ और उनके अनुयायियों की विस्तृत समीक्षा की। राष्ट्रीय जागरण के साथ अवनीन्द्रनाथ की कला जनप्रिय हो गई। अवनीन्द्रनाथ और उनके अनुयायियों को प्रायः कला के क्षेत्र में राष्ट्रीयता के उन्नायक घोषित किया गया। किन्तु वे जिनका मन रवि वर्मा तथा उनके समान अन्य कलाकारों द्वारा अपनाई योरोपीय कला परंपरा से अभिभूत था, कला में इस नए प्रयोग को स्वीकार करने के लिए राजी नहीं थे। अवनीन्द्रनाथ की कृतियों में छाया निक्षेप ( कास्ट शैडो ), दृश्यभूमिका ( पेर्सपेक्टिव ) तथा शारीर की अविद्यमानता के कारण वे उनके विरोधी हो गए और वे उनकी कृतियों को कला की श्रेणी में ही नहीं रखना चाहते थे।

समसामयिक आलोचना से हमें ज्ञात होता है कि अवनीन्द्रनाथ के प्रशंसकों ने उनकी कृतियों को कला न कहकर अध्यात्मवादी शब्दावली द्वारा समझाने का प्रयत्न किया। बंगाल में अवनीन्द्रनाथ को लोगों ने रामानन्द चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' के माध्यम से जाना और बंगाल के बाहर 'माडर्न रिव्यू' के माध्यम से।

ओकाकुरा के प्रयास से जापानी और भारतीय कलाकारों में जो सम्पर्क स्थापित हो गया था उसके परिणामस्वरूप कालान्तर में हमारे देश में जापानी साहित्य का अनुवाद हुआ। जापानी अभिरुचि और जीवन के ढँग से देशवासी अधिकाधिक परिचित होते गए।

रवीन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ और गगनेन्द्रनाथ ने १९१२ में कलकत्ता में विचित्रा सभा की स्थापना की। साहित्य के इतिहास में विचित्रा सभा का बार-बार उल्लेख मिलता है। आधुनिक कला के इतिहास में भी उसका उल्लेख आवश्यक है। इसी समय के लगभग गगनेन्द्रनाथ ने आधुनिक गृहसज्जा के लिए बंगाली लोक कला रूपों का उपयोग करने का प्रयत्न किया। अवनीन्द्रनाथ और गगनेन्द्रनाथ ने घरों को सजाने और पश्चिमी ढंग के सोफा और कुर्सियों को भारतीय स्पर्श देकर रूप परिवर्तन करने के लिए जापान की भांति देशी चटाइयों आदि का उपयोग किया। कला के माध्यम से समाज की रुचि को सुधारने का प्रयास किया गया और इसके नेता थे गगनेन्द्रनाथ। यह प्रयास असफल रहा हम ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि जैसी उन्होंने रूपरेखा तैयार की थी वैसी कुर्सियाँ आदि आज भी बनती हैं। यह उल्लेख करना उचित होगा कि आल्पना कला के संबंध में 'बांग्लार व्रत' जैसी अधिकारपूर्ण कृति उस समय प्रकाशित हुई थी जब बहुत ही कम व्यक्ति लोक कला की इस विशेष धारा और उसकी परंपरा से परिचित थे।

विचित्रा सभा के युग में ही अराईकोम्पो इस देश में आए और जापानी प्रभाव के एक नये अध्याय का प्रारंभ हुआ। अराईकोम्पो अंकन विधियों में बहुत ही दक्ष थे। नंदलाल ने

उनसे ही जापानी लेखन पद्धति में स्याही और तूलिका का प्रयोग सीखा। जिस प्रकार नदलाल ने अराईकोम्पो से जापानी चित्रण की शैली और विधि सीखी उसी प्रकार उसने भारतीय शैली सीखी। जापान और भारत के बीच कला के क्षेत्र में कलाविधि और शैली का ऐसा घनिष्ट आदान-प्रदान इसके पहले कभी नहीं हुआ था। यह प्रभाव स्थायी और सृजनात्मक था।

विचित्रा सभा युग में अवनीन्द्रनाथ का निवास स्थान संस्कृति का छोटा-सा केंद्र ही बन गया था। उन दिनों कोई भी कला संग्रह इतना बड़ा नहीं था जितना अवनीन्द्रनाथ का। इसी संग्रह से कुमारस्वामी को अपनी कृति 'इडियन टाइग्ज़' ( भारतीय चित्र ) के लिए सामग्री प्राप्त हुई। विदेशों से भी कलाकार भारतीय कला के सबध में जानकारी प्राप्त करने तथा भारतीय कला के आदर्शों को समझने तथा उनके कला सग्रह को देखने के लिए आते थे। ऐसे आगन्तुकों में से एक विलियम रोथेन्स्टाइन ( William Rothensteine ) भी थे। विचित्रा सभा ने शिक्षित समाज को कला के प्रति जागरूक बनाया, फलस्वरूप प्रेरणा पाकर नवयुवक कला विद्यार्थियों का एक दल अवनीन्द्रनाथ के समीप गया और नदलाल और असितकुमार से कला की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त किया। अवनीन्द्रनाथ का पाठ्यक्रम बँधाबधाया नहीं था अत उनको समझना लोगों के लिए आसान भी था।

उन दिनों अपनी रुचि के अनुसार कला सृजन का आनद अनेक लोगों ने प्राप्त किया। नौसिखिए कलाकारों के एक दल ने अवनीन्द्रनाथ के कला आदर्शों और पद्धतियों का अनुसरण करने का प्रयत्न किया। इन नौसिखियों के द्वारा जापानी प्रभाव के नए युग का सूत्रपात हुआ। उनमें प्रमोद चट्टोपाध्याय, शारदा उकील, पुलिन विहारी दत्त और मुकुल दे प्रतिभाशाली थे, जो अपने अपने लिए एक मार्ग बना सके। भारतीय कला के पुनर्जागरण-काल में मुकुल दे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एचिंग ( Etching ) कला का प्रारभ किया।

योरोप में जब प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था तब भारतीय बाज़ार में जापानी औद्योगिक तथा वाणिज्य कला के सामान बड़े जनप्रिय थे। जापानी गुड़ियाँ, लकड़ी की बनी रगीन मजूषाएँ, छपी हुई चटाइयाँ, वस्त्र तथा अनेक सस्ती और भड़कीली वस्तुएँ, खेलने के सामान इत्यादि का लोगों की रुचि पर बहुत प्रभाव पड़ा।

जापानी वाणिज्यिक कला का प्रभाव कुछ गभीर नहीं था और जापानी राष्ट्रीय-कला-परपरा की कोई सच्ची धारणा उसके आधार पर नहीं बन सकी। ये वस्तुएँ केवल विदेशी बाजारों के लिए थीं। किन्तु इसका प्रभाव बगाली नौसिखिए कलाकारों पर पड़ा। बाद में ओरिएटल आर्ट सोसायटी के कलाकारों की कृतियों में जापानी कला के स्पष्ट लक्षण दिखे। ओरिएटल आर्ट सोसायटी या अवनीन्द्रनाथ की धारा की कला को देन का विवेचन करने के पहले सांस्कृतिक कार्यों के लिए निर्मित नए वातावरण के विषय में कुछ कहना आवश्यक है।

# शिल्पाचार्य नन्दलाल

धीरेनकृष्ण देव वर्म्मा

मधुछत्ते के मधुकोष में संचित मधु जैसे किसी समय अनेक पुष्पों में बूँद-बूँद हो बिखरा रहता है वैसे ही महाकवि या महाशिल्पी के जीवन और प्रतिभा का इतिवृत्त उनके अनेक कर्मों, नाना विच्छिन्न घटनाओं में प्रच्छन्न रूप से उपस्थित रहता है। इन सब के संकलन से उनके जीवन का पूर्णरूप प्रकाश में आता है। शिल्पाचार्य नन्दलाल की जीवनी और प्रतिभा के परिचय के लिए इसी प्रकार उनके नाना कर्मों, शिल्प-सृष्टि तथा छोटी-बड़ी घटनाओं की आलोचना करनी होगी।

शिल्पाचार्य नन्दलाल शान्तिनिकेतन में सन् १९१४ में पहली बार आए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ द्वारा दिए गए अभिनन्दन को ग्रहण करने के लिए। आम्रकुंज में अभिनन्दन अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर दोपहर के समय छातिमतला में ( सप्तपर्णी वृक्ष के नीचे ) लाल-नीली पेन्सिल से छोटी एक कापी में कुछ रेखाचित्र बना रहे थे। उस समय ब्रह्मविद्यालय में हम कई एक छोटे-छोटे छात्र छातिमतला की बड़ी-बड़ी मालती लताओं में बैठे हुए झूल रहे थे। हम नन्दलाल के चारों ओर साग्रह 'वह क्या चित्र बना रहे हैं', देखने के लिए इकट्ठे हुए। जीवन में मेरा यही नन्दलाल का पहला दर्शन था।

फिर सन् १९१८ में शिल्पी नन्दलाल के शान्तिनिकेतन में स्थायीभाव से रहने के लिए आने पर भी वे कलकत्ता से यहाँ बारबार आते-जाते रहते थे। छात्रावस्था में हममें से कई एक का चित्र अंकन के प्रति विशेष उत्साह था। एकदिन छात्रों के मुख से सुना कि नन्दबाबू ने चित्र अंकन प्रतियोगिता के लिए कुछ विषय दिए हैं, इन्हें जल्दी ही अंकित करके उनके पास पहुंचाना है। कुछ ही दिन पहले शान्तिनिकेतन आश्रम में बिजली की व्यवस्था की गई थी। छात्रावास, रसोई घर तथा मुख्य सड़कों पर सबसे पहले बिजली लगाई गई। सड़क के किनारे बिजली के तारों को बांधने के लिए जो लकड़ी के खम्भे गाडे गए थे उन्हीं में से एक का चित्र बनाना था।

कंचन फूल के कई एक पौधे उस समय गौर-प्रांगण में लगाए गए थे, इसके पहले शान्तिनिकेतन में इसका पेड़ मैंने नही देखा था। गाय-बकरी के उपद्रव से बचाने के लिए बाँस की खपच्चियों के बेडे से इन पौधों को घेरा गया था, इस कंचन फूल के पौधे और बेडे का चित्र भी बनाना था।

चित्रों के लिए अन्य विषय थे—एक गाय, गुलंच फूल, शाल वृक्ष आदि। छात्रों में

उक्त विषयों के चित्र अङ्कन के लिए विशेष हलचल मच गई थी, विद्यालय के हम चार-पाँच छात्रों ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया था। बाद में देखा था कि शिल्पी नन्दलाल ने स्वयं भी उन सभी चित्रों को चीनी स्याही से बड़ी सुन्दरता से अंकित किया था। कला-भवन की नींव पड़ी सन् १९१९ में द्वारिक नाम के घर में।

इसी बीच शिल्पी गुरु नन्दलाल ने कला-भवन का कार्यभार ग्रहण किया, बाहर से आए तीन शिल्पी छात्र तथा ब्रह्मविद्यालय के छात्रों में से मैं सबसे पहले कला-भवन में चित्रकला की शिक्षा के लिए भर्ती हुआ। कला-भवन के अन्यान्य अध्यापकों में उस समय थे, शिल्पी असितकुमार हालदार तथा शिल्पी सुरेन्द्रनाथ कर।

चित्र अङ्कन का क्लास भी अति उत्साह के साथ आरम्भ हुआ लेकिन उस समय शिक्षक या छात्र किसी के भी मन में यह प्रश्न नहीं जगा कि शिक्षा-पद्धति क्या होगी, उसकी नियमावली क्या रहेगी। फिर भी सब के सामने अस्पष्ट होने पर भी एक दृढ़ आदर्श उपस्थित था कि एक अच्छे शिल्पी होने के लिए जो कुछ करणीय है वह सभी हम लोगों को करना होगा। गुरु नन्दलाल का शिल्प विषय में आत्मविश्वास और आश्रम गुरु रवीन्द्रनाथ का उत्साह तथा आशीर्वाद ही थे हम लोगों की एकमात्र अमूल्य सम्पद्। गुरुदेव सर्वदा ही खोज-खबर लेते रहते थे कि 'किस समय 'कौन' 'क्या' चित्र बना रहा है। गुरुदेव का संगीत, कविता, साहित्य कला-भवन के शिक्षक तथा छात्रों के लिए आदर्शों की दृष्टि से पथ निर्देशक और उत्साह के उत्स थे। कलाभवन को गढ़कर खड़ा करने की चेष्टा में गुरु नन्दलाल का एक आदर्श दिखलाई पड़ता है। साधारणत अन्यान्य आर्ट स्कूल या कालेज का जो रूप हमें देखने को मिलता है उससे कुछ भिन्न वैशिष्ट्य इस शिक्षाकेंद्र में था। वह है गुरु शिष्य की सम्मिलित साधना से यथार्थ शिल्पी बन कर तैयार हो, एक शिल्पी परिवार या गोष्ठी की सृष्टि हो, परस्पर के प्रति स्नेह का बन्धन रहे। छात्रों को शिक्षा दान में गुरु नन्दलाल की दृष्टि मुख्यत कई पक्षों पर आकर्षित रहती थी। छात्रों में कल्पना शक्ति का विकास, चिन्तन में उत्कर्ष लाभ, स्वदेश की शिल्प धारा का सम्यक् ज्ञान एवं उसके प्रति श्रद्धा, प्रकृति पर्यवेक्षण और उसका भली-भाँति अध्ययन करना, उसके गंभीरतम रहस्यों का सन्धान पाना, आस-पास के प्रवहमान जीवन के प्रकाश को समझ सकना और उसका अध्ययन करना तथा इनके साथ ही साथ चित्र अङ्कन करने के कौशल या टेकनिक पर अधिकार प्राप्ति, सुन्दर कविता, संगीत तथा शिल्पसृष्टि की रसोपलब्धि करने की क्षमता प्राप्त करना, उसमें आनन्द पाना, हृदय में रस और कौतुकबोध उत्पन्न करना, इन सभी गुणों पर अधिकार पाना होगा यदि कुशल शिल्पी होने की इच्छा मन में है तो।

गुरु नन्दलाल सदा ध्यान रखते थे जिससे उनके छात्र इन गुणसमूहों के अधिकारी हो सके।

कार्य और कलम के द्वारा वे प्रत्येक छात्र को ही चित्र अंकन सिखलाते थे। स्टूडियो में बैठकर चित्र आँकने के काम के अलावा दूसरी प्रयोजनीय विद्या पर अधिकार पाना संभव नहीं, इसीलिए छात्रों को बाहरी प्रकृति के बीच लिवा ले जाते थे गुरु नन्दलाल।

वसन्तागम से कोपाइ नदी के किनारे असंख्य पलाश-सेमल के फूलों के लाल रंग से आकाश जब रक्तिम शोभा धारण करता, नन्दलाल छात्रों को यह सौंदर्य देखने का अवसर देने के लिए कोपाइ नदी के किनारे वन-भोज का आयोजन करते। कला-भवन के छात्र-छात्राएँ वहाँ बैठकर वसन्त के गीत गाते, आस-पास के ग्रामीण जीवन, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, मानव, फूल-फलों के रेखाचित्र बनाते, नदी के जल में वे उछल-कूद मचाते उसीके बीच गुरु नन्दलाल एकाग्र मन हो पोस्टकार्डों पर एक के बाद दूसरा चित्र अंकित करते जाते।

कला सम्बन्धी आलोचना भी उसीके साथ चलती रहती। इस उपयुक्त समावेश में उन्मुक्त आकाश के नीचे अपूर्व परिवेश के अपने अगोचर में ही गुरु से शिल्प के अनेक विषयों की शिक्षा मिलती पर उसमें कोई थकान छात्र-छात्राओं को नहीं होती, केवल आनन्द मिलता। प्रकृति की अनेकानेक अभिव्यक्ति में उसके नाना रूप छिपे हुए हैं। इसीसे नन्दलाल छात्र-छात्राओं को ले जाते कभी अँधेरी रात में, कभी ज्योत्स्नारात्रि में खुले उन्मुक्त प्रांगण में। काल वैशाखी की आँधी से जब आकाश धूल-रेत-कंकड़ से अन्धकारपूर्ण हो जाता तब नन्दलाल छात्रों को लेकर उसी के बीच घूमते-फिरते। उन्होंने अनुभव किया था कि जो छात्र नए बादलों से ढँके काले अँधेरे आकाश को देख रोमांचित नहीं हुआ, वसन्तऋतु में पुष्पराजि के वैचित्र्य, रंगों के समावेश तथा उसकी सुगन्धि नहीं पा सका, समुद्र की विशालता, पर्वत की उच्चता, मानव-चरित्र का माहात्म्य नहीं देखसका उसे किस प्रकार शिल्पी बनाया जाए? देश भ्रमण, प्राचीन ऐतिह्यपूर्ण शिल्प प्रधान स्थानों के दर्शन को वे शिल्प शिक्षा के विशेष अंग के रूप में मानते थे। इसीलिए छात्रों को लेकर अजन्ता की गुफा, एलोरा, बुद्धगया, सारनाथ, राजगृह, महाबलिपुरम्, कोणार्क भ्रमण-उद्देश्य से जाते। आदर्श शिल्पियों के सम्बन्ध में बताते हुए वे प्रसिद्ध यूरोपीय, चीनी, जापानी शिल्पियों के चित्र, उनके जीवन आदर्श तथा सौंदर्य बोध के अनेक उदाहरण हमारे सामने उल्लिखित करते।

भारतीय प्राचीन साहित्य में हम गुरुभक्ति की अपूर्व बातें पढ़ते हैं। वही गुरुभक्ति हमने नन्दलाल के चरित्र में देखी थी। शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ नन्दलाल के गुरु थे। उनमें परस्पर के प्रति एक ऐसा श्रद्धापूर्ण मधुर सम्बन्ध था जो आजकल सहज ही देखा नहीं जाता। इस प्रसंग में एक छोटी घटना का स्मरण हो आता है। उस समय नन्दलाल स्थायीरूप से शान्तिनिकेतन के गुरुपल्ली अंचल में रह रहे थे। किसी एक कार्य के प्रसंग में एकबार वे

कलकत्ता के लिए रवाना हुए, इस यात्रा में मैं भी उनके साथ था। साथ ले रखी थी पत्र मातृमाता के साथ बँधी हुई एक साफ कपड़े की पोटली। उसमें थे कुछ बतख के अण्डे और घर की बनी कुछ आहार्य्य सामग्री। उस समय मेरी छोटी आयु में मन पर इस घटना की लकीर खिंच गई थी, महसूस किया था इस पोटली की गाँठ से लेकर अण्डा और आहार्य्य सामग्री तक में जैसे एक पवित्र श्रद्धाभक्ति और स्नेहावेग लिप्त हो। जब भी अवनीबाबू के साथ भेंट करने के लिए कलकत्ता जाते तब वे सदा कुछ न कुछ उपहार साथ में ले जाते। अवनीबाबू का भी अपने छात्रों पर गहरा स्नेह था। वे सदा उनकी सुख सुविधा का ध्यान रखते, जिसमें छात्रों की आर्थिक उन्नति होगी, कैसे वे अच्छे रहेंगे इन सब बातों की चिन्ता रहती थी। गुरु नन्दलाल ने एकबार बताया था कि वे, समरेन्द्र गुप्त तथा असित हाल्दार लेडि हेरिंग हाम के साथ अजन्ता गुफा के भित्ति-चित्रों की नकल करने वहाँ गए थे, वहाँ भोजन में कष्ट न हो इसलिए अवनीन्द्रनाथ कलकत्ता से आलू तथा बढ़िया चावल पार्सल द्वारा भेजते थे। गुरु के प्रति भक्ति का नन्दलाल आचरण, बातचीत में जो आदर्श दिखला गए उसका प्रतीक रूप हम लोग देख पाते हैं उनके एक चित्र में जिसमें उन्होंने अपने गुरु अवनीन्द्रनाथ को शुद्ध चित्त से भक्ति रस से अंकित किया है।

कला-भवन के आरम्भिक समय में पहले द्वारिक गृह में बाद को नन्दन गृह में एक ओर का स्टूडियो जो मास्टर मशायेर (महाशय) स्टूडियो के नाम से प्रसिद्ध था वहाँ सब समय उनके लिए निर्दिष्ट स्वच्छ जल से पूर्ण एक पात्र रखा रहता, उसमें दो-चार पुष्प तैरते रहते, धूपबत्ती की सुगन्ध समूचे कमरे को सुवासित करती रहती, यह जैसे साधना का मन्दिर हो। तूलिका, रंग यथायुक्त रूप से सजा कर रखे रहते, उसी के बीच शिल्पी नन्दलाल एकाग्रचित्त से चित्र अंकित करते। चित्र अंकित करने के आयोजन में जो स्वच्छता, शुद्धता रहती वही भाव रूप में हम छात्रों के हृदय पर रेखांकित हो गई। हम भी उसी प्रकार सजा कर बैठकर चित्र आँकने का प्रयत्न करते।

छात्रों को लेकर आर्ट के सिद्धान्त ( Theory ) तथा सौन्दर्य ( Aesthetic ) सम्बन्धी अध्ययन और आलोचना करने का भी गुरु नन्दलाल को आग्रह था। हर शाम को द्वारिक के दक्षिण की ओर के बरामदे में बैठ कर शिल्प विषय के अध्यापन का कार्य चलने लगा। कुछ दिनों के बाद जर्मनी से श्रीमती स्टेला क्रामरिश आईं, वे भी इस अध्यापन के कार्य में शामिल हुईं। वे अधिक दिन यहाँ नहीं रहीं, कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिल्प विषय के अध्यापन के लिए चली गईं। गुरुदेव के नाटक, ऋतु उत्सव—यथा वर्षामंगल, वसन्तोत्सव आदि कलकत्ते के प्रसिद्ध रंगमंचों पर कभी कभी यदाकदा अनुष्ठित होते थे। तब नन्दलाल और सुरेन्द्रनाथ

रंगमंच सजा, नाटक या ऋतु-उत्सव में अंश लेनेवाले लोगों की वेशभूषा अपने हाथों सजा देते। इस प्रकार बंगाल में रंगमंच-सज्जा की सुन्दर मार्जित रुचि का प्रवर्तन किया। इस विषय में नन्दलाल की देन पर्याप्त है।

गुरु नन्दलाल का स्थायी रूप से शान्तिनिकेतन आकर रहना और आश्रम-गुरु रवीन्द्रनाथ का संग लाभ करना उनकी प्रतिभा के विकास के लिए उपयुक्त परिवेश प्राप्त करना था। रवीन्द्रनाथ के आदर्श को मन-प्राणों से पूरी तरह जैसे स्वयं ग्रहण किया था वैसे ही अपने छात्रों में भी जिससे यह आदर्श प्रसार प्राप्त करे वे इसकी कोशिश करते थे। शान्तिनिकेतन विद्यालय के सभी अध्यापक, छात्र-छात्राओं की श्रद्धा इसी कारण उन्होंने प्राप्त की थी। इस आश्रम में प्रतिवर्ष गान्धी पुण्यदिवस का पालन किया जाता है। बहुत पहले महात्मा गान्धी इस दिन ही दक्षिण अफ्रीका से अपने फिनिक्स आश्रम के छात्रों को लेकर रहने के लिए शान्तिनिकेतन पधारे थे। महात्मा जी के आदर्शानुसार उस समय विद्यालय के रसोईगृह से सब रसोइया-नौकरों की छुट्टी कर दी गई और आश्रमवासी छात्रों को ही रसोई पकाना, बर्त्तन माजना, कुए से पानी भरना आदि सब कार्य करने पड़ते। आजकल इस दिवस-पालन में एक दिन के लिए शान्तिनिकेतन के सब छात्र-छात्राओं तथा अध्यापकों को रसोई पकाना, बर्त्तन माजना और आश्रम के प्रांगणों की सफाई करनी पड़ती है। पहले शान्तिनिकेतन में पुराने ढंग के पाखाने थे। प्रतिवर्ष गान्धी दिवस के दिन शिल्पी नन्दलाल इन्हें साफ़ करते थे। इस काम में विद्यालय के कई एक अध्यापक और कलाभवन के छात्र उनका साथ देते थे। कलाभवन या दूसरे भवनों के लड़कों के अस्वस्थ होकर अस्पताल जाने पर वे वहाँ जाकर सदा उनकी खोज खबर लेते तथा देख भाल करते। शिल्पी की ख्याति प्राप्त करके सौन्दर्य साधना का बहाना ले, सुख दुःख परसेवा और भी अप्रीतिकर बहुत से दायित्वों का टालना नन्दलाल के स्वभाव में न था।

मानव महत्त्व के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा थी। उनके चरित्र की एक और विशेषता थी, वे स्वयं करके दूसरों को सिखाते थे। स्वयं काम करके तब दूसरे को करने के लिए कहते थे। गुरुदेव के आदर्श तथा उनके सङ्ग ने नन्दलाल के जीवन को बहुत कुछ बदल दिया था। एक बार चर्चा करते हुए उन्होंने बताया था कि गुरु अवनीन्द्रनाथ ने उन्हें चित्रकला की शिक्षा दी थी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उनके तीसरे नेत्र या ज्ञाननेत्र का उन्मेष किया था। यह प्रतिक्रिया उनकी सम्पूर्ण शिल्परचना में प्रस्फुटित हुई है। उनके शान्तिनिकेतन आने से पूर्ववर्ती अधिकांश चित्रों के विषयों में हम देखते हैं, हिन्दू देवदेवी, पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक प्रसिद्ध घटना अथवा व्यक्ति का आधार। लेकिन रवीन्द्रनाथ के संसर्ग में आने के बाद परवर्ती चित्रों में हम देखते हैं उन्होंने मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में चलते-फिरते, आस पास के प्राणी और

वर्तमान समय में भारत तथा अन्यान्य देशों में आधुनिक शिल्पधारा या माडर्न आर्ट के नाम से एक लहर फैली दीखती है। भारतीय शिल्पियों में अधिकांश इस पद्धति के अनुसरण से चित्र अंकित करते तथा मूर्ति गढ़ते हैं। इस सम्बंध में एक बार मैंने गुरु नन्दलाल के विचार जानने चाहे। उन्होंने संक्षेप में उत्तर देते हुए कहा था कि माडर्न आर्ट को वे खूब अच्छी तरह नहीं समझते, लेकिन हमेशा समझने की कोशिश करते हैं। और आग्रह रखते हैं। यदि इस शिल्प पद्धति के माध्यम से शिल्पियों को सृष्टि करने की सही भाषा मिली हो, आनन्द-प्राप्त किया हो तो यह पद्धति जीवित रह जाएगी और यदि ऐसा न होकर केवल एक 'फैशन' या 'इज्म' के वशवर्ती हों तो धीरे धीरे रुक जाएगी लेकिन यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक नए प्रयत्न, आलोडन या लहर में अच्छाई कुछ न कुछ रहती है, सारा का सारा बेकार नहीं होता। इस माडर्न आर्ट का आलोडन शायद वृहत्तर शिल्पधारा में कुछ प्रगति ला देगा। नन्दलाल की शिल्प सम्बन्धी मान्यता बहुत उदार है। वे देशी अथवा विदेशी सभी अच्छे आर्ट की सृष्टि को श्रद्धासह देखते थे, स्नेह करते थे और उससे आनन्द पाने की चेष्टा करते। छोटे बालक बालिकाओं द्वारा अंकित चित्र या मिट्टी से गढ़ी मूर्तियाँ उनके निकट वैसे ही समादृत थे। शिल्प सृष्टि की वस्तु की किसी प्रकार अश्रद्धा करना वे पसन्द नहीं करते थे। स्मरण आता है किसी एक शिल्पी छात्र ने कमरे को जमीन पर रखे हुए एक चित्र को पैर से दिखलाया गुरु नन्दलाल इससे अत्यन्त दुःखी हुए थे। उन्होंने उस छात्र को समझा दिया था कि प्रत्येक सृष्टि जैसे चित्र, मूर्ति, अल्पना, गुदड़ी तक जो भी शिल्प द्वारा रचित हैं वे सभी हमारे लिए श्रद्धा की वस्तुएं हैं। कभी पैर से इन्हें नहीं दिखाना चाहिए।

शिल्पाचार्य नन्दलाल ने परिपक्व आयु में परलोक गमन किया। उनकी मृत्यु के कई एक वर्ष पहले तक वे अपनी चित्रशाला में प्रतिदिन नियमित रूप से बैठकर चित्र बनाते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में वे रंग का व्यवहार नहीं करते थे, केवल चीनी स्याही से चित्र अंकित करते। कहते थे रंग घोलने की मेहनत के लिए न तो अब उत्साह ही रहा और न तो शक्ति। प्रतिदिन एक चित्र अंकित करते। इन चित्रों का ध्यान पूर्वक निरीक्षण करने से पता चलेगा कि शिल्पी के कई एक गुण स्पष्ट रूप से इनमें संलग्न हैं। शिल्पी की काफी उम्र हो गई थी, शक्ति क्षीणतर, हाथ में दृढ़ता का अभाव, मन में चित्र के विषय का सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करके युक्ति से नाना रूप से कागज पर "कम्पोज" करने की क्षमता या मन की अब वह अवस्था नहीं रही, फिर भी चित्र अंकित करने की प्रेरणा मन के कोने में रह गई थी। लकड़ी के कोयले की बुझती आग जैसे राख से ढकी होने पर भी बुझती नहीं, शिल्पी नन्दलाल की भी वैसी ही दशा थी। शिल्प सृष्टि की आकांक्षा और शक्ति स्तिमित होने पर भी पूर्णतया उसकी निवृत्ति नहीं हुई थी।

उस समय के चित्रित सब चित्र ही बहुत सीधे सादे ढंग के हैं, उनके विषय वस्तु भी अति सरल हैं। इन चित्रों की तुलना रूपकथा ( कल्पित कहानी ) के साथ की जा सकती है। चित्रों में रूपक का प्राधान्य है, और युक्ति गौण। इनकी रचना युक्ति या कारण से नहीं, किन्तु सम्पूर्ण मन से कल्पना का आश्रय लेकर हुई। किसी दिन शिल्पी ने अपने अनुभव में इन सब घटनाओं या विषयों को स्नेह से देखा था, उनकी मृत्यु नहीं हुई, वे मन के किसी कोने में जमे थे। बहुत दिनों बाद शिल्पी की तूलिका में फिर वे पकड़ाई दे गये। शिल्पी ने जो आँकना चाहा उसका आवेदन सहज, सरल और दृढ़ है।

शिल्पाचार्य के साथ कला के प्रसंग में बहुत बार जो आलोचना हुई उसकी कई एक बातें यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर स्वयं आनन्दित हो हमारी दृष्टि उस ओर आकर्षित करके जो कुछ उन्होंने एक दिन कहा था उन बातों का भी कुछ यहाँ उल्लेख करके लेख समाप्त करूँगा।

२४ जनवरी सन् १९५२ को कलाभवन के प्रांगण में पेड़ की छाया में बैठे गुरु नन्दलाल हम लोगों के साथ बातचीत कर रहे थे। बातों के प्रसंग में उन्होंने कहा "देखो मैं तो जा रहा हूँ ( कुछ दिन पूर्व कलाभवन-परिचालना के कार्यभार से अवसर ले चुके थे ) लेकिन दुःख होता है कला की वर्तमान हालत देखकर। आत्म प्रधान कला आजकल प्राधान्य पा रही है। अमर बेल के समान जन-जीवन के साथ इस कला का कोई योग नहीं है। यह साधारण मनुष्य के मन में कोई रस संचार नहीं करती, केवल चित्र-प्रदर्शनी के उद्देश्य से चित्र अंकित होते हैं। इन सब शिल्पियों के जीवन और उनके कला सौन्दर्य में कोई योग नहीं है। अच्छे चीनी शिल्पी का बासगृह मन्दिर के समान स्वच्छ, पवित्र और अधिकांश आधुनिक शिल्पियों का बासगृह सुअर के आवास के समान गन्दा।"

कला कला के लिए, यह एक प्रचलित उक्ति है। हर समय नन्दलाल इसी मत को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। किसी उद्देश्य को लेकर कला की सृष्टि में शिल्पी अपने उच्चादर्श को ऊँचा उठा सकता है। शिल्पी ने बुद्ध की मूर्ति गढ़ी, एक उद्देश्य को लेकर ही इस कलाकृति की सृष्टि हुई, यह जैसे धर्म-वृक्ष के सहारे शिल्पलता ऊपर फैली। दूसरे एक दिन की और बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा "शिक्षा में गुरु तथा छात्र के बीच श्रद्धा और स्नेह का सम्बन्ध रहना विशेष आवश्यक है, यही होगी एक प्रधान सम्पद्। श्रद्धा रहने पर गुरु की सब दया छात्र ग्रहण कर सकता है। गुरु द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से चित्र अंकन में कोई अपमान नहीं। प्रसाद प्राप्ति में गौरव है, उच्छिष्ट में अपमान है। शिल्पियों में परस्पर के प्रति द्वेष होने से ही मुश्किल है।" उन्होंने कभी भी अपने गुरु

अवनीन्द्रनाथ से द्वेष नहीं किया। जीवन में गुरु से इतना स्नेह और प्यार पाया जो कहकर समाप्त होने का नहीं। कलकत्ता छोड़कर जब वे शान्तिनिकेतन में काम करने आए तब अवनी बाबू ने कहा था कि जैसे मैंने सब कुछ खो दिया हो। फिर जब नन्दलाल ने शान्तिनिकेतन छोड़ कर कलकत्ते की 'इण्डियन सोसाइटी अव् ओरियण्टल आर्ट" प्रतिष्ठान में योगदान दिया तब अवनीबाबू इतने प्रसन्न हुए कि उनकी एक ही उक्ति से यह भाव प्रकट हुआ, उन्होंने कहा था 'एक बोतल ह्वीस्की पान करने के समान जैसे पुन: शक्ति लौट आई हो' वे कहते थे, नन्दलाल को देखे बिना रहा नहीं जाता। यद्यपि नन्दलाल सोसाइटी में अधिक दिन नहीं रहे। कलाभवन का कार्यभार ग्रहण करने फिर शान्तिनिकेतन में स्थायी रूप से रहने के लिए लौट आए।

सन् १८-३-६४ ई०, सरकारी चारु और महाविद्यालय कलकत्ते में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने नन्दलाल बसु की चित्र प्रदर्शनी का उद्‌घाटन किया। शान्तिनिकेतन आश्रमिक सघ और सरकारी चारु और महाविद्यालय के युग्मउद्योग से यह प्रदर्शनी आयोजित हुई थी उसके पहले दिन शामको देखने गया था। शान्तिनिकेतन लौट कर उसके दूसरे दिन प्रदर्शनी का साफल्य और चित्रों को देखकर सब दर्शकों की प्रशसा का समाचार देने के लिए गुरु नन्दलाल के घर गया। उन्होंने साग्रह मुझसे प्रदर्शनी का समाचार सुना। फिर धीरे धीरे बोले "देखो, इस साफल्य में मेरा कुछ भी कृतित्व नहीं है। यह कार्य मेरे द्वारा होना सम्भव नहीं, इसके पीछे अवनीबाबू, गुरुदेव, तुम सब हो, इसीलिए यह सम्भव हुआ। यदि मेरे द्वारा यह होता तो अब क्यों नहीं कर पा रहा हूँ।" कहते कहते वह जैसे कुछ भावावेश में अभिभूत हो गये थे। फिर बोले "देखो मेरा भारतीय Egoism है। जो भी अकिन करें वह भारतीय होना चाहिए तथा कुछ न होने पर भी यदि भारतीय परम्परा की नकल हो तो भी अच्छा। परम्परा है बीज के अन्दर नए प्राण का आवरण। यह आवरण न रहने पर अन्दर के नए प्राण-बीज की रक्षा नहीं हो पाती, आँधी, पानी, ताप और अन्य प्रकार के ध्वस से रक्षा करता है। आवरण कठोर होने पर भी यथा समय उसे फाड कर नए रूप से प्राण-बीज प्रकट होना है। कला में भी इसीलिए परम्परा तोड़ने की शक्ति चाहिए, इसी से नई कला बनेगी। यहाँ परम्परा और नई कला में परस्पर विरोध नहीं है बल्कि वे एक दूसरे के सहायक हैं।"

१-५-१९५४, शिल्पीगुरु का कथन "किसी समय शान्तिनिकेतन एक प्रशस्त वृक्षादि-हीन उजाड़ मैदान था। धीरे धीरे पेड़ पौधे उगे, उन्होंने छाया का विस्तार किया, यहाँ के भूदृश्य की सृष्टि की, फल फूल का वितरण किया, छात्र-शिक्षक, ज्ञानी गुणी यहाँ आकर एकत्रित हुए,

उनकी चिन्तन धारा, कर्म से इस खण्ड वृक्षराजि की छाया तथा फल फूल के साथ घुलमिल कर शान्तिनिकेतन आश्रम की सृष्टि हुई। केवल पुस्तक पढ़कर और इनको निकाल कर शान्तिनिकेतन की शिक्षा पूरी कैसे होगी?

दूसरी एक बात के प्रसंग में उन्होंने कहा था, "आहार के पूर्व भूख होनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ फिर भी खा रहे हैं, इससे हजम नहीं होता, स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। चित्र अंकन करने से पूर्व उसके विषय के साथ मित्रता होनी चाहिए, तभी तो आँकने में आनन्द मिलेगा।"

उनके कार्डोंपर अंकित चित्रों में से एक नागकेशर के फूल का चित्र था। इतने सहज और सुन्दर ढंग से चित्रित देख मैंने कहा "ऐसा लग रहा है—फूल की सुगन्धि मिल रही हो।" फूल के रंग के सम्बन्ध में बात चलने पर उन्होंने कहा "एक लड़की ने पूछा था,-श्रीराधा के शरीर का रंग कैसा होगा? श्रीराधा के शरीर का रंग नागकेशर फूल के रेणु के समान, फूल से जैसे श्रीराधा के शरीर की सुगन्धि निकल रही है। यह जो रूढ़ि युग-युग से भारतीय कवियों के मन में चली आ रही है, इसका सौंदर्य और माधुर्य समझने की क्षमता यूरोपीय भावधारा में विरल है तथा सम्भव भी नहीं।"

मार्च महीना सन् १९५४, कलाभवन का प्रांगण, वसन्त समागत, उसके सब चिह्न प्रकट हो रहे हैं। पलास, सेमल के फूल बिखरे पड़े हैं और पेड़ों पर मधु के लोभ से पक्षियों का आना जाना जारी है। दूसरे दो एक फूल के पेड़ों पर फूल खिलने शुरू हो गए हैं जैसे बनपुलक, पियाल आदि। फूल की सुगन्धि से पवन भरपूर है।

कुछ दिनों से सूखे पत्ते झड़ने शुरू हुए हैं। सूखे शिरीष के बीजों के हवा से हिलने के कारण बिचित्र ध्वनि हो रही है। सबेरे के समय कलाभवन के स्टूडियो में क्लास चल रहे हैं। खिड़की के बाहर से सहसा गुरु नन्दलाल ने आ पुकारकर कहा, "देखो जी, जल्दी आकर देखो क्या अपूर्व है।" दौड़कर आकर देखा आँधी का झोंका सेमल के सूखे सुनहले पत्तों को पक्षी के झुण्ड के समान उड़ाए लिए जा रहा है। उन्होंने विचार प्रकट किया "इस सौन्दर्य से छात्रों को अवगत कराना चाहिए। प्रतिदिन के जीवन के आसपास ऐसी कितनी ही छोटी, बड़ी घटनाएँ घटित होती रहती हैं। यदि शिल्पी के अन्तर्लोक का आनन्द इन पर पड़े तो वे भी किसी दिन चित्र-अंकन के विषय ( Subject ) बन सकते हैं।" शिल्पी गुरु नन्दलाल के छोटे छोटे कार्ड-चित्रों को देखने से लगता है छोटी छोटी वैचित्र्यपूर्ण घटनाएँ उस आनन्द की अभिव्यक्ति में पकड़ाई दे गई हैं। गुरु गंभीर या आध्यात्मिक व्याख्या द्वारा भाराक्रान्त नहीं तो भी ये सौन्दर्य रस से समुज्ज्वल हैं। एक बार उन्होंने कहा था कि उनकी

दशा द्रोणाचार्य के समान है। गाण्डीव अस्त्र ( रंग, तूली ) सभी कुछ है लेकिन प्रयोग की क्षमता आज नहीं रही। यद्यपि यह उक्ति सत्य नहीं हुई, कारण शिल्पी इसके बाद भी पर्याप्त संख्या में चित्र अंकित कर गये हैं। शिल्पाचार्य नन्दलाल अपने दीर्घ जीवनव्यापी रूप रहस्य के सन्धान में जो कर्म कर गए उसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि उन्होंने जीवन के एक मात्र श्रेय और प्रेय को पाने की साधना के रूप में शिल्प साधना की उपलब्धि की।

# पुराणों में बुद्धावतार का प्रसंग

रामशंकर भट्टाचार्य

पुराणों ( एवं उपपुराणों ) में बुद्ध का प्रसंग किस रूप में है, यह दिखाने के लिये प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। हम पौराणिक उल्लेखों का संग्रह मात्र[1] कर ही अपना विचार समाप्त करना चाहते हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से छानबीन करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। पुराणों के रचनाकाल में बुद्ध प्रायः अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे, साथ ही बौद्धों के प्रति घृणा या द्वेष की वृद्धि का परिचय भी पुराणों में मिलता है। इस द्विविध मनोभाव से प्रकट होता है कि किसी समय समन्वयात्मक दृष्टि से बुद्धावतार की सत्ता स्वीकार कर ली गई थी, यद्यपि बौद्ध दर्शन या बुद्धचर्या में सनातनधर्मी समाज ( शाक्त-शैवादि संप्रदाय एवं स्मार्त-संप्रदाय ) की कोई आस्था नहीं थी। यह भी सत्य है कि कोई समय ऐसा था जब बुद्ध अवतार के रूप में परिगणित नही हुए थे, पर बौद्ध धर्म के क्रमिक प्रसार के कारण धार्मिक क्षेत्र में बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में मानना आवश्यक हो गया था। किन-किन ऐतिहासिक कारणों में बुद्ध, बौद्धों के प्रति इस प्रकार के विभिन्न मनोभाव भारतीय समाज में उद्भूत हुए, इस पर विचार करना आवश्यक है। इस कार्य के प्रथम सोपान के रूप में यह लेख लिखा जा रहा है। बुद्ध सम्बन्धी कोई भी महत्त्वपूर्ण अंश इसमें छूटा नहीं है, यद्यपि संक्षेपार्थ सामान्य बातों को कहीं-कहीं छोड़ दिया गया है। पाठक लक्ष्य करें कि बुद्ध के विषय में कितने मतमतान्तरों का उद्भव पुराण काल में ही हो चुका था, जिनका समन्वय करना भी दुरूह कार्य है।

**सिद्धार्थ बुद्ध से अन्य अर्थ में बुद्ध शब्द**—यह जानना चाहिए कि पुराणों में बुद्ध शब्द शिवादि के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं, यथा—

**शिव को लक्ष्यकर**—नमो बुद्धाय शुद्धाय ( लिङ्ग० १।२१।१० ), नमो वेद रहस्याय नमो ·········बुद्धाय शुद्धाय ( कूर्म० १।६।१५ ), नमो बुद्धाय रुद्राय ( कूर्म० १।१०।४८ )।

**विष्णु या विष्णु के अवतारों के प्रति**—नमो बुद्धाय रुद्राय नमस्ते ज्ञान रूपिणे ( वराहस्तुति में कूर्म १।६।१५ )।

ऐसे स्थलों में 'बुद्ध' का अर्थ है—ज्ञाता। सिद्धार्थवाचक बुद्ध शब्द ही शिव-विष्णु के लिए आदरार्थ प्रयुक्त हुए हैं, ऐसा कहना असंगत है। पुराणप्रयुक्त 'बुद्ध' शब्द पर विचार करते समय इस भेद पर ध्यान देना आवश्यक है।

---

१. पुराणों के पाठ कहीं कहीं भ्रष्ट प्रतीत होते हैं, हस्तलेखों के आधार पर कई स्थलों का अन्तिम निर्णय करना कठिन है। प्रस्तुत निबन्ध में मुद्रित पाठ ही स्वीकृत हुए हैं।

अध्यात्मतत्त्ववित् अर्थ मे बुद्ध शब्द—इस विषय में ब्रह्म पु० २३७ अ० का वाक्य द्रष्टव्य है—

एतद्विजन्मनामग्य ब्राह्मणस्य विशेषन ।
आत्मज्ञानसमस्नेहपर्याप्त तत् परायणम् ॥१०॥
तत्त्व बुद्ध्वा भवेद् बुद्ध किमन्यद् बुद्ध लक्षणम् ।
विज्ञयतद् विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिण ॥११॥

इसी प्रकार शान्ति प० ३०८।२२ के 'बुध्यमानश्च प्रोक्तो बुद्ध' वाक्य का बुद्ध पद सिद्धार्थ बुद्ध का वाचक नहीं है यह ग्रन्थ स्वारस्य से स्पष्ट ही है। नीलकण्ठ अपनी दृष्टि से व्याख्या करते हैं—"बुध्यमान अनर बुद्ध ईश"।

वायु पु० ( ११।९ ) योग प्रकरण का निम्नोक्त श्लोक भी इस प्रसग मे आलोचनीय है—

अतीतानागत ज्ञान दर्शन सांप्रतस्य च ।
बुद्धस्य समता याति दीप्ति स्यात् तप उच्यते ॥

यहाँ बुद्ध पद सिद्धार्थ वाचक नहीं है।

यहाँ भी बुद्ध शब्द सिद्धार्थ वाचक न होकर योगसिद्ध को लक्ष्य करता है।

**पुराणोक्त अवतार सूची में बुद्ध का नाम**—दशावतार सूची या अन्य प्रकार की सूची में बुद्ध का नाम प्राय मिलता है जो पुराणकाल में बुद्ध की प्रसिद्धि का द्योतक है।[२] ऐसे स्थल पुराणों में अनेक हैं। किसी स्तुति आदि में यदि आगे पीछे मत्स्य कूर्मादि के नाम हो तो उस स्थल में प्रयुक्त बुद्ध शब्द सिद्धार्थ बुद्ध का वाचक है, यह स्वाभाविक नियम है।

ध्यान देना चाहिए कि बुद्ध को विष्णु का अवतार ही माना गया है, शिव या ब्रह्मा का नहीं। इसके हेतु पर विचार करना आवश्यक है।

पुराणों में कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ अवतारो के प्रसंग में बुद्ध का नाम नहीं लिया गया ( ऐसे प्रकरण प्राचीनतम है, अत बुद्ध का उल्लेख होना उस प्रकरण के अर्वाचीनत्व का भी द्योतक है ) यथा—हरिवंश १।४१ अ० मे विष्णु के प्रादुर्भाव के प्रसग में अनेक अवतारो का विवरण रहने पर भी बुद्ध का स्मरण नहीं किया गया, इसी प्रकार शान्तिपर्व ३३९।१०३-१०४ में बुद्ध का स्मरण नहीं किया। ( इस सूची मे हसावतार का नाम है तथा कृष्ण को सात्वत शब्द से अभिहित किया गया है )। सेतु माहात्म्य खण्ड ३।८१-८२ में एक विष्णुस्तुति है,

२ कल्कि० ०।३ अ०, सौर० १०।१८-२८, शिव० २।४।९।२५, गरुड० २।२०।३१ ३२, गरुड० १८६।१०-११, गरुड० ११ अ०, भाग० ११३ अ, मत्स्य०, २८५।७, मत्स्य० ४७।२४७, रेवा० १५१-२१, लिङ्ग० २।४८।३०-३२, भाग० २।७ अ०।

जिसमें दश अवतारों के नाम है ; पर बुद्ध का नाम नहीं है, ( बलराम और कृष्ण ये दो नाम हैं )।

**बुद्ध के नामान्तर**—अग्नि पु० १६।४ में बुद्ध को लक्ष्यकर 'अर्हितः सोऽभवत् पश्चात् आर्हतान करोत् परान्' कहा गया है ; यहाँ अर्हित=बुद्ध है। इसी प्रकार बुद्धदेव शब्द पद्म पु० ६।३१।१५ में आया है ( नमोऽस्तु बुद्धदेवाय…… )। बुद्ध का गौतम नाम भविष्य पु० ३।१।६।३६ में उल्लिखित हुआ है।

**अवतार सूची में बुद्ध का स्थान**—पुराणों की दशावतार सूचियों में बुद्ध का स्थान 'नौवां' है, यह सर्वत्र कहा गया है,३ कहीं-कहीं नवम शब्द के न रहने पर भी नवम स्थान में बुद्ध का नाम रखा गया है।४ दशावतार के अतिरिक्त अन्यान्य अवतार सूचियों में, बुद्ध का स्थान निश्चित नहीं है, पर बुद्ध के बाद कल्कि ( अनागत अवतार ) का स्थान निश्चित रूप से सर्वत्र मिलता है।

अवतारों की अन्य प्रकार की सूचियों में बुद्ध का स्थान अनियत है। भाग० पु० १।३ अ० में उक्त अवतारों में बुद्ध का स्थान २१ वाँ है। २।७ अ० में विष्णु के लीलावतारों के प्रसङ्ग में बुद्ध का १९ वाँ स्थान है। पुराण की अनेक सूचियाँ कालक्रम को ध्यान में रखकर प्रणीत हुई हैं, ऐसा प्रतीत होता है, अतः पुराणकार की दृष्टि में बुद्ध का काल क्या है। यह इन सूचियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

सर्वत्र कल्कि के पहले बुद्ध का स्थान है, यद्यपि बुद्ध के अव्यवहित पूर्व अवतार के नाम में कदाचित् मतभेद मिलता है, कहीं बुद्ध के पहले व्यास ( भाग० पु० २।७ ) है, कहीं कृष्ण ( मत्स्य पु० २८५।७ )।

**बुद्ध का काल**—बुद्धकाल के निर्देश में पुराणों में विविध निर्देश मिलते हैं,—पुरा,५

---

३. तथा बुद्धत्त्वमपरं नवमं प्राप्स्यसेऽच्युत ( रेवा० १५१।२१ ), पुनश्च वेदमार्गो हि निन्दितो नवमे भवे ( शिव० २।४।९।२५ ), बुद्धो नवमको जज्ञे ( मत्स्य० ४७।२४७ )।

४. गरुड० १।८६।१०-११ और २।२०।३१-३२ में बुद्ध का नाम नवम स्थान में है। लिङ्ग० २।४८।३०-३२ में भी नवम स्थान है।

५. पुरा ··· मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ··· ( अग्नि० १६।१-२ ; पुरा देवासुरे युद्धे ··· विष्णु ; मोहयामास बुद्धरूपेण (हेमाद्रि श्राद्धकाण्डधृत ब्र वै वचन तन्त्राधिकारिनिर्णय पृ० ३ में उद्धृत)।

६. ततः कलौ संप्रवृत्ते ··· ( भाग० १।३।२४ ) ; कलौ प्राप्ते यथा बुद्धो भवेन् नारायणः प्रभुः ( नरसिंह ३६।९ )।

कलि,६ कलि सन्ध्यान्त७ कलिप्रथमचरण८ एवं अष्टाविंशतिकलियुग।९ कुमारिका खण्ड में कहा गया है कि कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने पर बुद्ध (मुद्रित पाठ बुध है) होंगे—ततः त्रिषु सहस्रेषु षट्शतैरधिकेषु च विष्णोरंशो जगत्पाता बुद्धः साक्षात् स्वयं प्रभुः (४०।२५५-२५६)। पौराणिक दृष्टि से कलि आरम्भ का एक निश्चित काल है, तदनुसार गणना कर देखना चाहिए कि यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ तक संगत ठहरता है।

*बुद्ध के पिता माता*—भाग० पु० १।३।२४ में बुद्ध को अञ्जन का सुत कहा गया है। अञ्जन पाठ संदिग्ध है। श्रीधर ने यहाँ 'अजिन'-रूप पाठान्तर दिखाया है। श्रीधर की टीका में भी पाठान्तर मिलते हैं। मूल पाठ अञ्जन, अञ्जनि, अजन अजिन और जिन में कोई भी हो सकता है।१० (भागवत तात्पर्य में ब्रह्माण्ड पुराण का एक वचन उद्धृत है जिसमें कहा गया है कि एक जिन ने पथस्थित एक बालक को पुत्ररूप में मान लिया—पुत्रं तं कल्पयामास मूढबुद्धिर्जिनः स्वयम्—१।३।२८)। भविष्य पु० में 'अजिनस्य द्विजस्य सुतः' कहा गया है (४।१२।२७) पितृनाम में मतान्तर भी मिलते हैं। अग्नि पु० में 'शुद्धोदनसुत' पद है (१६।२)। कृत्यरत्नाकरधृत वराह पु० में 'शुद्धोदनस्य पुत्रोऽभूत्' वाक्य है (पृ० २४७-२४८)। मत्स्य पु० २७१-१२ में शाक्य शुद्धोदन-सिद्धार्थ रूप पितृपरम्परा कही गई है।

कल्कि पु० २।७।४४ में मायादेवी को 'मातरं बौद्धानाम्' कहा गया है। कुमारिका० ४०।२५५ में 'अञ्जन्यां प्रभविष्यति' वाक्य है। यहाँ मातृनाम के रूप में पितृनाम का भ्रान्त प्रयोग हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के पितृनाम के विषय में पुराणकारों में मतभेद तथा संदेह था।

---

७ ततः कलौ तु सम्प्रवृत्ते (गरुड० १।१।३२)।

८ कलिप्रथमचरणे वेदमार्गे विनाशितः (भविष्य० प्रतिसर्ग ३।६।३९)।

९ परम्परागत संकल्पवाक्य में यह मत भाषित होता है, कृत्यरत्नाकर पृ० १५९ धृत ब्रह्म पुराण वचन में यह मत है। वाक्य यह है—अष्टाविंशति मे प्राप्ते विष्णुः कलियुगे सति। शाक्यान् विनष्टधर्मान्ध बुद्धो भूत्वा प्रवर्तयत्।

१० अजनस्य सुतः। जिनसुत इति पाठे जिनोऽपि स एव (श्रीधर), जिनस्य सुतो भविष्यति नाम्ना बुद्धः (वीरराघव टीका) जिनसुतः जिनेन सुतत्वेन वृतः (विजयध्वज टीका), जिनस्य अजिनस्य वा सुतः (सुबोधिनी), अञ्जनसुऽजिन सुतश्चेति पाठद्वयम् (विश्वनाथ टीका), अजिनस्य सुतो नाम्ना बुद्धः (सिद्धान्तदीप)।

**बुद्ध का जन्मस्थान**—भाग० पु० १।३।२४ में कीकट नाम बताया गया है। [श्रीधर कहते हैं—कीकटेषुनद्ये गया प्रदेशे ; कीकटेषु मगधविषयेषु (विजयध्वज व्याख्या)]। कुमा० ४०।२५५ में 'मगधेहेमसदनात्' वाक्य है। वस्तुतः पुराणों में कीकट नाम ही बहुधा प्रयुक्त हुआ है ; गरुड० पु० १।१।३२ भागवतवत् ही है। कल्कि पु० २।६।४०-४२ में कल्कि के साथ बौद्धों के विरोध के प्रसंग में कहा गया है कि कल्कि कीकटस्थ बुद्धालय में उपस्थित हुए "कल्कि 'प्रययौ कीकटं पुरम् बुद्धालयं सुविपुल वेदधर्मबहिष्कृतम्"। कीकट गया में है, यह गरुड पु० १।८२।५ से ज्ञात होता है।

**बुद्ध का शरीर**—बुद्ध शरीर के अनुपम सौन्दर्य के विषय में स्वल्प निर्देश मिलते हैं। मत्स्य पु० ४७।२४७ का 'देवसुन्दररूपेण बुद्धो नवमको जज्ञे तपसा पुष्करेक्षणः' श्लोक इस विषय में द्रष्टव्य है। बुद्ध के लम्बकर्ण, गौराङ्ग, अम्बरावृत—ये विशेषण अग्नि पु० ४९।८ में मिलते हैं। बुद्ध की प्राचीन मूर्तियों से इन विशेषणों की यथार्थता सिद्ध होती है। बुद्ध के विशेषण के रूप में मुण्डित, शुक्लदन्तवान् शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

**बुद्ध के सहायक**—बुद्ध प्रसंग में मत्स्य पु० में "बुद्धो जज्ञे द्वैपायनपुरःसरः" कहा गया है। (४७।२४७)। इसका अर्थ अस्पष्ट है। मत्स्य पु० का यह प्रकरण वायु पु० ९८ अ० में है, पर वहाँ बुद्धसम्बन्धी यह उल्लेख है ही नहीं।

**बुद्ध की भाषा**—बुद्ध ने मगध भाषा में उपदेश दिया, यह तथ्य महाभारत में सुरक्षित है। (यह महाभारत का संक्षिप्त अंश है, अतः पूना संस्करण में मोक्ष धर्म पर्व की परिशिष्ट १ संख्या ३१ के रूप में यह मुद्रित हुआ है)। यथा—

ततः कलियुगस्यादौ भूत्वा राजतरुं श्रितः।
भाषया मागधेनैव धर्मराजगृहे वसन्॥
काषायवस्त्रसंवीतो मुण्डितः शुक्लदन्तवान्।
शुद्धोदन सुतो बुद्धो मोहयिष्यामि मानवान्॥

'धर्मराजगृह में रहकर' कहने का तात्पर्य विचार्य है।

**बुद्ध का पुत्र**—'राहुल' नामक बुद्ध के पुत्र का नाम क्वचित् पुराणों में मिलता है। विष्णु पु० में इक्ष्वाकुवंश में (४।२२ अ०) शुद्धोदन के बाद राहुल का नाम है ; राजा न होने के कारण बुद्ध का नाम नहीं लिया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

**बुद्ध और शाक्य**—शाक्य का बुद्ध के पितामह के रूप में मत्स्य पु० (२७१।७२) में उल्लेख हुआ है। वेदादि के अर्थ के अपहरण के प्रसंग में कहा गया है—"वामपशुपतादीनां शाक्यादीनां परिग्रहः" (तन्त्राधिकारि० पृ० १२)। ब्रह्मवै० पु० में—बौद्धं धर्मं समास्थाय

शाक्यास्ते तु वभूविरे' ( हेमाद्रि श्राद्धकाण्ड धृत, तन्त्राधिकारि० पृ० ३ ) कहा गया है, जिससे शाक्यों का बुद्धधर्मावलम्बी होना भी ज्ञात होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणकारों की दृष्टि में 'शाक्य' का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं था। विष्णु पु० में शाक्य-शुद्धोदन-राहुल यह पितृ-पुत्रक्रम है। यहाँ शुद्धोदन के बाद बुद्ध का नाम इसलिये नहीं है कि वे राजा नहीं हुए थे। बुद्धचरित के प्रसग में शाक्य११ का प्रकृत तात्पर्य निर्धारणीय है।

ब्रह्मपुराण का एक वचन कृत्यरत्नाकर ( पृ० १५९ ) में उद्धृत है, जिसमें कहा गया है कि विनष्ट धर्म शाक्यों को बुद्ध ने पुनरुज्जीवित किया। शाक्य लोगों का बौद्ध धर्म ग्रहण स्पष्ट कथित हुआ है—"बौद्ध धर्म समास्थाय शाक्यास्ते तु बभूविरे" (हेमाद्रिश्राद्धकण्डीय ब्रह्मवैवर्तवाक्य, तन्त्राधिकारि० पृ० ३ )।

बुद्ध के कर्म—बुद्ध ने जिन कर्मो का सपादन किया उनका बहुधा उल्लेख पुराणों में मिलता है। वेद की निन्दा तथा यज्ञ में पशु हिंसा की निन्दा१२ और दैत्य दानव मोहन१३ उनके

---

११ शाक्य शब्द की ये व्याख्याएँ द्रष्टव्य हैं। अमरकोषटीकाकार क्षीरस्वामी कहते हैं—"शाक्यमुनिर्बुद्धावतार शकोऽभिजनोऽस्येति"। भानुजिदीक्षित ने एक आगमवचन उद्धृत किया है—"शाकवृक्षप्रतिच्छन्न वास यस्माच्च चक्रिरे। तस्माद् इक्ष्वाकुवंश्यास्ते शाक्या इति भुवि स्मृता"। त्रिकाण्डचिन्तामणिटीका में भी ऐसी बात मिलती है।

१२ पुनश्च देवमार्गो हि निन्दितो नवमे भवे ( शिव पु० २।४।९।२५ ), कले, प्रथम-चरणे वेदमार्गो विनाशित ( भविष्य० पु० १।६।३९ ), वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान ( भाग० पु० ११।४।२७ ), बुद्ध द्वारा उपधर्म का कथन ( भाग० पु० २।७।३७ ), पशुहिंसा को देखकर वेद की निन्दा करना ( पद्म पु० क्रियाखण्ड ६।१८८ )। कल्कि पु० २।३।२९ का सन्दर्भ इस प्रसग में दर्शनीय है—"पुनरिह निषिद्धवेदधर्मानुष्ठानविहितनानादर्शनसघृण ससारकर्मत्याग-विधिना ब्रह्माभासविलासचातुरी प्रकृतिविमाननाम सपादयन् बुद्धावतारस्त्वमसि।

१३ मोहनाय सुरद्विषाम् ( भाग० पु० १।३।२४ )। नमोऽस्तु बुद्धाय च दैत्यमोहिने ( पद्म पु० सृष्टि खण्ड० ७३।९३ ), वादैर्विमोहयति यज्ञ कृतोऽतदर्हान ( भाग० पु० ११।४।२३ ), नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ( भाग० पु० १०।४०।२२ ), बुद्ध सम्मोहाय सुरद्विषाम् ( गरुड पु० ११।४५।४० )। मायामोहस्वरूप ( अग्नि पु० १६।१-४ ) यह विशेषण बुद्ध के प्रति सनातन धर्म दृष्टिकोण का भलीभाँति परिचायक है। 'दानवों का मोहन' वाक्य में दानव का तात्पर्य असुरसदृश बौद्ध ही है। टीकाकारों ने भागवत पु० १।३।२४ प्रयुक्त 'सुरद्विषा मोहनाय' की जो व्याख्या की है, वह उनकी परम्परानुगत दृष्टि के अनुसार है, पर उससे यह भी सिद्ध होता है कि समाज में जो वैदिक दृष्टि पर श्रद्धा नहीं रखते थे, उनके मोहन के लिये ही बुद्ध अवतीर्ण हुए थे, ऐसा पुराणकार कहना चाहते हैं।

प्रसिद्ध कर्म कहे गए हैं। मधु का नाश करना कुछ अप्रसिद्ध कर्म[१४] भी उनके कर्म कहे गए हैं। असुरनाथ के साथ धर्मव्यवस्थापन करना भी उनका कार्य माना गया है ( मत्स्य पु० ४७।२४७ )।

**बुद्ध का योगी रूप**—मत्स्य० के व्रत प्रकरण में "बुद्धाय शान्ताय नमो······" कहा गया है ( ५४।१९ )। प्रकरण को देखने से यहाँ बुद्ध-नमस्कार है, ऐसा प्रतीत होता है। 'शान्त' विशेषण बुद्ध के योगित्व का द्योतक है। नारद पुराण में कहा गया है—

भूम्यादिलोकत्रितयं संतप्तात्मानमात्मनि।
पश्यन्ति निर्मलं बुद्धं तमीशानं भजाऽम्यहं ॥१।२।४४॥

यह बुद्धस्तुति है, क्योंकि इससे पहले मत्स्य-कूर्म-रामकृष्णादि की स्तुति है ( और इसके बाद कल्कि की स्तुति है। )

दशावतार प्रतिमावर्णन में बुद्ध का वर्णन यह है—

शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः।
अदर्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः ॥ अग्नि पु० ४।९।८ ॥

बुद्ध का काषायधारण भी पुराणों में कथित हुआ है।

**बुद्ध-पूजा**—श्रवणद्वादशीव्रतान्तर्गत विष्णुपूजन में 'कृष्णनाम्ना च नेत्रे द्वे बुद्धनाम्ना तथा शिरः' ( १५।१६ ) कहा गया है। इस वाक्य में बुद्धपूजा का भाव स्पष्ट लक्षित होता है। वराह पुराण ४८।२२ का 'रूपकामो यजेद्बुद्धम्' वाक्य बुद्धपूजा का साक्षात् निर्देशक है।

**बोधितरु**—पद्म पु० उत्तर खण्ड० ११७।३० में 'बोधिवटो' पद है; यह बोधि शब्द बोधितरु का वाचक है। वायु पु० २।४५।३४ ( वेंकट० ) में बोधिद्रुम और अश्वत्थ शब्द हैं। यहां बोधिवृक्ष ( अश्वत्थ ) बोधिसत्व कहा गया है। अग्नि पु० ११५।३७ में गयायात्रा के प्रसङ्ग में महाबोधितरु का उल्लेख है।

**बौद्ध दर्शन संबंधी प्रसंग**—पुराणों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से बौद्ध दर्शन या शास्त्र के उल्लेख मिलते हैं, यथा—

१— बुद्धरूपी विष्णु ने दैत्यों के नाश के लिये असत् बौद्ध शास्त्र का प्रवचन किया ( पद्म पु० ६।२६३।६९ )।

२—बौद्धों को प्रत्यक्षवादी कहा गया है—प्रत्यक्षवादिनी बौद्धाः ( कल्कि पु० २।७।१७ )।

---

१४. मधुहन्ता मधुप्रियः ( रेवा० १५१।२१ ), ज्योतिर्विन्दुमुखानुग्रान् स हनिष्यति कोटिशः ( कुमारिका )।

# बौद्धभिक्षुओं की आहारचर्या

चन्द्रशेखर प्रसाद

२

(पूर्वांक से आगे)

## ३ महायानियों में आमिषाहार का निषेध—

महायानियों का लक्ष्य—महायान के विकास के साथ साथ बौद्ध आचार में भी परिवर्तन आया। बौद्धधर्म का चरम लक्ष्य निर्वाण ही रहा पर निर्वाण का स्वरूप बदल गया। अब निर्वाण की परिणति अर्हत्व की प्राप्ति में नहीं होकर बुद्धत्व की प्राप्ति में हो गयी। जीवन का उद्देश्य श्रावक (शिष्य) बनकर, दुःख से मुक्ति के लिये उद्योग करना नहीं रहा बल्कि बोधिसत्व बन सभी जीवों को दुःख से मुक्ति दिलाने के लिये अथक परिश्रम करना हो गया। श्रावकों के शील समाधि प्रज्ञायुक्त विशुद्धिमार्ग की जगह पारमिताओं का पालन ही बोधिसत्त्व के लक्ष्य-प्राप्ति का साधन बन गया।

इन परिवर्तनों की उचित सराहना और बोधिसत्त्व के सिद्धान्त को समझने के लिये आवश्यक है कि बुद्ध, बोधिसत्त्व और अर्हत् के बीच के भेद और हीनयानी आचार दर्शन की अनुभूत त्रुटियों पर एक दृष्टि डाली जाय। बुद्ध, बोधिसत्त्व और अर्हत् की चर्चा थेरवाद में भी है। बुद्ध अर्हत् भी हैं पर अर्हत् बुद्ध नहीं हैं। दोनों का निर्वाण एक है पर अर्हत् में बुद्ध का सम्यक् सम्बोधि नहीं है जिससे बुद्ध लोक का पथ प्रदर्शन करते हैं। इसकी प्राप्ति के लिये गौतम बुद्ध को पाँच सौ से अधिक जन्मों तक बोधिसत्त्व के आदर्शों का पालन करना पड़ा था। बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व का जीवन है। बोधि के लिये उद्योगशील प्राणी को ही बोधिसत्त्व कहते हैं। बोधिसत्त्व अर्हत् से सदा भिन्न है। अर्हत्व श्रावक जीवन की चरम परिणति है। श्रावक का उद्देश्य स्वकल्याण है और निर्वाण उसका चरम लक्ष्य है। बोधिसत्त्व में अर्हत्व प्राप्ति की क्षमता है पर उसे अपना निर्वाण तब तक स्वीकार नहीं जब तक संसार के सभी प्राणी दुःख से मुक्त नहीं हो जाते हैं। बोधिसत्त्व का उद्देश्य पर कल्याण है और बोधि की प्राप्ति उसका लक्ष्य है।

हीनयान में बोधिसत्त्व का जीवन सभी के लिये आवश्यक नहीं है। बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर दुःख से मुक्ति पा लेना ही श्रावकों का चरम लक्ष्य है। धीरे धीरे यह चरम लक्ष्य

सबों के लिये आकर्षण का केन्द्र नहीं रहा। वैसे लोग जिनमें परकल्याण की भावना प्रवल थी स्वकल्याण के लिये श्रावकों के उद्योग को स्वार्थपूर्ण समझने लगे। फिर अर्हत्व व्यक्तिगत उद्योग का परिणाम था। इसकी प्राप्ति में किसी बाह्य सहयोग के लिये स्थान नहीं था। स्वयं बुद्ध भी केवल मार्ग दर्शक थे। वे शिष्यों को निर्वाणमार्ग दिखलाते थे, उस पर शिष्यों को लगा देते थे पर वे न निर्वाण देते थे और न दिलाते थे। बुद्ध ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा था—अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा धम्मदीपा विहरथ धम्मसरणा अनञ्ञसरणा (दे० दीघ० भा० २, ८०)। अपने उद्योग से विशुद्धि मार्ग पर चलकर दुःख से मुक्ति पाना उतना आसान नहीं था कि सभी लोग उससे लाभान्वित होते। फिर सभी लोगों में वैसी क्षमता भी नहीं है कि वे धर्म के मार्ग पर चल सकें। अतः एक ऐसे मार्ग की और एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई जिस मार्ग द्वारा वह व्यक्ति अन्य को दुःख से मुक्त करा सके। फिर ज्ञानेच्छु, ज्ञानपिपासु भिक्षुओं के लिये व्यक्तिगत निर्वाण में विशेष आकर्षण नहीं रहा क्योंकि यह लक्ष्य उन्हें सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के लिये प्रेरित नहीं करता था।

उपर्युक्त त्रुटियों को दूर करने के लिये ही बोधिसत्त्व के सिद्धान्त का विकास हुआ। यह सिद्धान्त महायान की अनुपम और अतुल्य देन ही नहीं बल्कि महायान नाम की सार्थकता भी सिद्ध करता है। चूंकि बोधिसत्त्व का सिद्धान्त सभी प्राणियों की दुःख से मुक्ति के लिये महा-यान रूप है अतः इस सिद्धान्त के मानने वालों ने अपने को महायानी कहा और इसके विपरीत अन्य लोगों को हीनयानी की संज्ञा दी क्योंकि उनका मार्ग व्यक्तिगत मुक्ति के लिये था। बोधिसत्त्व के सिद्धान्त में परकल्याण की बात थी। दुःख से मुक्ति के लिये सांसारिक जीवन का परित्याग और विशुद्धि मार्ग पर चलना आवश्यक नहीं रहा। मुक्ति का मार्ग श्रद्धा, मैत्री और ज्ञान हो गया। बोधिसत्त्व पुण्य संचय कर दूसरों के कल्याण में लगने लगे।

बोधिसत्त्व के जीवन का प्रारम्भ—बोधिसत्त्व के जीवन का प्रारम्भ बोधिचित्तोत्पाद से होता है। यह अवस्था श्रावकों के लोकोत्तरभूमि में प्रवेश की अवस्था के समकक्ष है। यहाँ भावी बोधिसत्त्व और श्रावक का गोत्र और भूमि परिवर्तन होता है। एक साधारण जन की श्रेणी से उठकर बोधिसत्त्व भूमि में प्रवेश पा लेता है दूसरा साधारण जन से आर्य हो जाता है और लोकोत्तर भूमि में प्रवेश पा लेता है।

बोधिचित्त सभी प्राणियों में है और इस अर्थ में सभी बोधिसत्त्व और बुद्ध बनने के लिये सक्षम हैं। परन्तु ज्ञान मैत्री आदि के अभाव में उनका बोधिचित्त अविकसितावस्था में है। इसे विकसित करने के लिये भावी बोधिसत्त्व श्रावकों की तरह अपने को तैयार करते हैं। श्रावक जीवन का प्रारम्भ निर्वेद से होता है। जिस व्यक्ति को संसार के प्रति विरक्ति हो गयी

वह बुद्ध धर्म और सघ की शरण मे प्रव्रज्या लेकर भिक्षु बनता है और शीलसमाधि और प्रज्ञा की भावना करते हुए लोकोत्तर भूमि मे प्रवेश पा लेता है।

बोधिचित्त का विकास संवेग और करुणा से होता है। कोई कोई व्यक्ति ससार की विभीषिकाओं को देखकर विचलित हो उठता है। असख्य असहाय प्राणियों को दुख से पीडित देखकर उसमें करुणा का सचार होता है। वह विभीषिका से मुक्त होने के लिये और सभी प्राणियों को मुक्त कराने के लिये बोधि की कामना करने लगता है। इस कामना को दृढ़ सकल्प ( प्रणिधान ) का रूप देने के लिये शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार और शिक्षा समुच्चय में अनुत्तर पूजा का विधान है। भावी बोधिसत्त्व बुद्ध, बोधिसत्व और धर्म की पूजार्चना करते हैं और इनकी शरण मे जाते हैं। अपने पापों को स्वीकार करते हैं और पुन नहीं करने की प्रतिज्ञा करते हैं। सभी प्राणियों के अच्छे कर्मों पर मुदित होते हैं। बुद्ध से धर्मोपदेश करने और अपने महापरिनिर्वाण को स्थगित रखने की अध्येषणा और याचना करते हैं। अपने पुण्य को पर कल्याण मे लगाते हैं और अहभाव को दूर करते हुए सभी प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। इस प्रकार की अनुत्तर पूजा साधनमात्र है जो भावी बोधिसत्त्व को बोधिसत्त्व के महत्कार्य के सम्पादन हेतु मानसिक स्तर पर तैयार करता है। इसकी परिपूर्णता से ही बोधिचित्तोत्पाद सभव होता है और उस अन्तिम क्षण की प्राप्ति होती है जब भावी बोधिसत्त्व किसी बुद्ध के समक्ष सभी प्राणियों के कल्याणार्थ बुद्ध बनने की कामना करते हुए कुछ व्रतों के पालन का सकल्प लेते हैं और बुद्ध उनके भावी जीवन की महानता की भविष्य वाणी करते हैं। तो इस घटना के साथ ही भावी बोधिसत्त्व बोधिसत्व बन जाते हैं।

बोधिसत्त्वचर्या और भूमि—बोधिसत्त्व बनते ही बोधिसत्त्व-चर्या का प्रारम्भ होता है। महायान सूत्रालकार मे इस चर्या को चारवर्गों मे विभक्त किया गया है।

१ बोधिपक्ष्य चर्या— बोधि की प्राप्ति मे सहायक ३७ धर्मों की भावना।

२ अभिज्ञा चर्या— अलौकिक बलविद्या की भावना।

३ पारमिताचर्या— दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय-कौशल्य, प्रणिधान बल और ज्ञान पारमिताओं का पालन।

४ सत्त्वपरिपाकचर्या—धर्मोपदेश द्वारा जीवों में धार्मिक परिपक्वता।

इन चार प्रकार की चर्याओं में बोधिपक्ष्य चर्या का उल्लेख हीनयान मे भी है। श्रावक इनकी भावना करते हैं। अभिज्ञा का भी उल्लेख है। ध्यानाभ्यास द्वारा श्रावकइन के प्रदर्शन में सक्षम हो जाते हैं। धर्मोपदेश का भी विधान है। बुद्ध ने स्वय भिक्षुओं को 'बहुजनहिताय

बहुजनसुखाय' की भावना से विहरने का आदेश दिया था पर वहाँ इस पर विशेष जोर नहो दिया गया है।

बोधिसत्त्व की विशेषता पारमिताओं के पालन में है। हीनयान में भी इनकी चर्चा है पर ये श्रावकों के निमित्त नहीं हैं। इनका पालन बुद्ध ने अपने पूर्व के जीवन में किया था। बोधिसत्त्व इन पारमिताओं को संसार के सभी प्राणियों के प्रति अपरिमित रूप से बढ़ाते हैं और इनके पालन में पूर्णता प्राप्त करने के लिये उद्योगशील रहते हैं। इन पारमिताओं में पूर्णता प्राप्त करने के बाद ही बुद्धत्व की उपलब्धि सम्भव होती है।

बोधिचित्तोत्पाद से बुद्धत्व की प्राप्ति तक के बोधिसत्त्व के जीवन को दशभूमियों में बांटा गया है। ये भूमियां हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंङ्गमा, अचला, साधुमति और धर्ममेघा। ये भूमियाँ थेरवादियों की लोकोत्तर भूमि के चार फलों की तरह हैं। बोधिसत्त्व भूमि, दशभूमिकसूत्र आदि ग्रन्थों में इनका सविस्तर वर्णन दिया गया है। इन सूत्रों में यह दिखलाया गया है कि बोधिसत्त्व किस भूमि में कौन-कौन से सद्गुणों का उपार्जन करते है। अन्य पारमिताओं के साथ साथ किस पारमिता के पालन में विशेष रूप से संलग्न रहते हैं और किस तरह लोक कल्याण करते हैं।

परिवर्त का सिद्धान्त—बोधिसत्त्व सिद्धान्त के साथ ही परिवर्त के सिद्धान्त का विकास हुआ। बौद्ध साहित्य में आत्मा आदि के लिये पुद्गल का प्रयोग हुआ है। हीनयानियों के अनुसार पुद्गल अनित्य और अनात्म है। इसे 'चित्तप्रवाह' माना गया है। यह चित्तप्रवाह व्यक्ति के कर्मफलों का सम्मिलित परिणाम है और व्यक्ति अपने कर्मों द्वारा इसे निरन्तर प्रवाहित रखता है। एक का चित्त प्रवाह अन्य के चित्तप्रवाह से पृथक है। फलतः एक के कर्मफल का प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता है। एक के पुण्य संचय से दूसरे का कल्याण नही हो सकता है। अनेकान्त का यह सिद्धान्त बोधिसत्त्व के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने में सहायक नहीं था। अतः अनेकान्त के सिद्धान्त की जगह महायान में एकान्त के सिद्धान्त का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार में अनेकान्त की सत्ता को स्वीकार किया गया पर इन्हें परमार्थतः एक माना गया। अनेक पृथक और स्वतंत्र नहीं बल्कि परस्पर सम्बन्धित और आश्रित हैं। पुद्गल अनेक होते हुए भी पृथक और स्वतंत्र नहीं हैं। ये परस्पर सम्बन्धित और आश्रित हैं। परमार्थतः ये एक दूसरे से भिन्न नहीं बल्कि एक हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मवाद के सिद्धान्त में भी परिवर्तन आया। कर्मफल पूर्णतः व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत हो गया। व्यक्ति अच्छा बुरा जो भी कर्म करता है वह उसी तक सीमित नहीं रहता। उसका प्रभाव अन्य पर भी पड़ता है। व्यक्ति अपने पूर्व कर्मफलों का

सम्मिलित परिणाम मात्र ही नहीं वल्कि सभी के सम्मिलित कर्मफलों का सम्मिलित परिणाम है। इस प्रकार कर्मफल के परिवर्तन को परिवर्त का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बोधिसत्त्व अपने पुण्य सचय को सभी प्राणियों के कल्याण में लगाने और सभी के दुखो को अपने ऊपर लेने में समर्थ हो गये। अपने निर्वाण के पूर्व अन्य प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने के लिये बोधिसत्त्व के दृढ सकल्प को तर्क सगत अवलम्ब मिला।

बोधिसत्त्व और परिवर्त के सिद्धान्तो से महायानी भिक्षुओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। ये आहार की शुद्धता पर जोर देने लगे और आमिषाहार का निषेध किया। लकावतार सूत्र में मासाहार के अवगुणों और निषेध के कारणों को इस प्रकार गिनाया गया है।

प्रत्येक प्राणी एक दूसरे से सम्बन्धित है और उनका पुनर्जन्म हो रहा है। अत किसी जीव का मांस खाना अपना ही मास खाना है। ऐसा करना मानवीय भावनाओं के प्रतिकूल है। बोधिसत्त्व जो प्रत्येक प्राणी को अपने इकलौते पुत्र की तरह समझते है मासाहार नहीं करते हैं।

असीम करुणा का प्रदर्शन बोधिसत्त्व का स्वाभाविक गुण है। सभी प्राणियो के प्रति असीम करुणा दिखलाने वाले बोधिसत्त्व मासाहार नहीं करते हैं।

मासाहारी के शरीर से एक प्रकार की दुर्गन्ध निकलती है जिससे पशुपक्षी मनुष्य से डर भागते हैं। अत सभी प्राणियो के प्रति मैत्री भाव रखनेवाले बोधिसत्त्व मांसाहार नहीं करते हैं।

मासभक्षण द्वारा पशुपक्षियो के बीच आतक फैलाते देखकर अन्य प्राणी भी उनसे डरने लगते हैं। और धर्म में विश्वास खो देते हैं। इस तरह बोधिसत्त्व का उद्देश्य ही असफल होता है। अत बोधिसत्त्व मासाहार नहीं करते हैं।

मासाहारी बोधिसत्त्व के सहायक, देवनागण, उनसे अलग हो जाते हैं। और असुरगण उनका पीछा करने लगते हैं। स्वय बोधिसत्त्व की स्फूर्ति जाती रहती है। इस प्रकार धार्मिक कार्य में बाधा पडती है। अत बोधिसत्त्व मासाहार नहीं करते हैं।

मास बोधिसत्त्व के लिये शुद्ध आहार नहीं है। यह शीघ्र सडता है और वातावरण को दूषित करता है। परिष्कृत घ्राण वालो को इससे आघात पहुँचता है। अत बोधिसत्त्व मासाहार नहीं करते हैं।

मांसाहारी एव उनके साथियो का श्रामण्य नष्ट हो जाता है। अत बोधिसत्त्व मासाहार नहीं करते हैं।

मासाहारी के कारण ही जीवों का वध होता है। अगर मासाहारी न हो तो कसाई भी न होंगे और जीवों का वध भी नहीं होगा। अत बोधिसत्त्व मासाहार नहीं करते हैं।

## ३. तिब्बती लामाओं में आमिषाहार

तिब्बत देशवासी महायानी हैं पर उनका धर्म विशेषरूप से लामा-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में चार्ल्स इलियट ने ( हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म भा० ३ पृ० ३८२ ) लिखा है कि यह "उत्तरकालीन भारतीय बौद्धधर्म और तिब्बत के अपने विश्वासों और विधिविधानों का संमिश्रण है"। भारतीय बौद्धधर्म का उत्तरकालीन विकास तंत्रयान के रूप में हुआ है। तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार के समय ( सातवीं सदी तक ) तांत्रिक बौद्धधर्म अपनी उग्रावस्था को पहुँच चुका था। यह उग्रावस्था वज्रयान और सहजयान नाम से अभिहित है। इसके पूर्व की सौम्यावस्था को मंत्रयान कहते है।

बौद्धधर्म के प्रचार के पूर्व तिब्बत में अपना कोई प्रवर्तित या परम्परागत धर्म नहीं था। अन्य प्रागधार्मिक जातियों एवं समाजों की तरह इनके अपने विश्वास और विधिविधान थे जिसे पोन ( =बोन ) धर्म के नाम से पुकारा जाता है। इस धर्म के सम्बन्ध में तिब्बती साहित्य और इतिहास मौन है। चीन के राजकीय अभिलेखों ( ५वीं ६ठीं सदी ) तथा अन्य स्रोतों से इतना पता चलता है कि ये लोग देवी-देवताओं एवं भूतप्रेतों में विश्वास करते थे और उनके प्रकोप से बचने के लिये तथा उनकी दया दृष्टि पाने के लिये उनकी पूजा करते थे। उनके लिये बलि आदि का भी अनुष्ठान करते थे।

तिब्बत की इस पृष्ठभूमि में पद्मसंभव ( आठवीं सदी के मध्य में ) ने तांत्रिक बौद्धधर्म का सफल प्रचार किया। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने तांत्रिक बल से धर्म प्रचार के बिरोधी असुरों का दमन किया और उनसे धर्म के संरक्षण की शपथ ली और निर्विरोध धर्म का प्रचार करते रहे। इस दन्तकथा के पीछे इतना तथ्य अवश्य है कि वहाँ की साधारण जनता ने तांत्रिक बौद्धधर्म को स्वीकार किया। उनकी स्वीकृति के पीछे एक विशेष कारण यह रहा होगा कि तंत्रयानियों के धार्मिक अनुष्ठान उनके अपने विधिविधानों से सर्वथा विपरीत नहीं रहे होंगे। दोनों के बीच ऐसी समानता थी कि उनके बीच के विरोधों को सरलता से हल किया जा सकता था। पुनः धार्मिक अनुष्ठानों के पीछे जो दर्शन था वह तिब्बतियों के लिये अलग आकर्षण होगा। पुनः तांत्रिक धर्म के प्रचारकों ने धर्म को वहाँ की जनता के अनुकूल बनाने के लिये उनके अपने विश्वासों एवं विधिविधानों का आदर किया और सम्भवतः उसे अपने धर्म में स्थान देने की पूर्ण चेष्टा की। इस प्रकार एक नये धर्म का उदय हुआ जिसे ही आज लामा-धर्म के नाम से अभिहित करते हैं।

पद्मसंभव के करीव दो सौ वर्ष बाद ( ११वीं सदी का मध्य ) अतीश दीपङ्कर श्रीज्ञान ने

परिशुद्ध करने के लिये चोङ्खापा ने अनेक नियमों का विधान कर लामा लोगों के लिये ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य कर दिया। मदिरा आदि के सेवन को बन्द करवाया। परन्तु इन सुधारों के समय भी मांसाहार का निषेध नहीं किया गया।

जैसा कि दलाई लामा ने अपनी पुस्तक [illegible] (अंग्रेजी अनु० पृ० १८) में लिखा है, इस प्रथा के पीछे यहाँ की सर्द जलवायु ही है। मांस यहाँ के प्रमुख भोज्य पदार्थों में एक है। शायद यही कारण था कि चोङ्खापा ने भी लामा लोगों को मांस खाने से मना नहीं किया। लामा लोग मांस खाते हैं, परन्तु थेरवादियों की तरह ही वे स्वयं जीवों का वध नहीं करते हैं और न विहारों में ही जीवों का वध होता है।

शिल्पी—विश्वरूप बसु

# मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध की भूमिका

रमेश कुंतल मेघ

इतिहास जोखिमों से भरपूर होता है अगर हम उसे सामाजिक विज्ञानों तथा मूल्यों से न जोड़ें। इतिहास तथा सामाजिक विज्ञान, दोनों ही मानवीय व्यवहार (बिहेवियर) का, तथा समाज में मानवीय जीवन के अर्थपूर्ण आदर्शों (पैटर्नों) का अध्ययन करते हैं। अतः आधुनिक युग में राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों के वैज्ञानिक इतिहास का उपयोग करते हैं; तथा इतिहासकार व्यवहारवादी विज्ञानों के आधार पर अतीत के मानवीय व्यवहार का विश्लेषण करते हैं। इसलिए इतिहास तथा सामाजिक विज्ञान दोनों के ही दो रूप हैं: कलारूप तथा विज्ञान रूप। दोनों में ही मूल्य अंतस्थ हैं और दोनों को ही द्वन्द्वात्मक सामाजिक नियम-निर्देशित करते हैं। इसी द्वन्द्वात्मकता की वजह से हम कह सकते हैं कि लोगों के एकरूप व्यवहार आदर्शों (सामाजिक विज्ञान) तथा इलेक्ट्रोनों के व्यवहार आदर्शों (प्राकृतिक विज्ञान) में एक समानता कतई नहीं है। इसी द्वन्द्वात्मकता की वजह से हम न तो इतिहास का परित्याग करते हैं, और न ही उसका पुनरुत्थान। सारांश में, हम इतिहास का सापेक्ष और अन्तर्मुखी व्याख्यायोग आधुनिक युग के धरातल पर से कर ही सकते हैं, और इस व्याख्या में सामाजिक विज्ञानों की दृष्टियों से दीपित होकर पूर्वाग्रही तथा अन्धभक्त न होकर मूल्यों के तथा इतिहास-दर्शन के अन्वेषक हो जाते हैं। इस व्याख्या के लिए हमें अपने युग के प्रतीकों के औज़ार इस्तेमाल करने पड़ते हैं; अन्यथा अतीत हमसे छिन जाता है, या हम वर्तमान से विच्छिन्न होकर अतीत में लुकछिप जाते हैं। भारतीय सौंदर्यबोध के विषय में हम मुख्यतः उक्त दूसरी अन्यथा-दशा को ही पाते हैं। अतः कलाशास्त्रों की इतनी ज्योतिर्मयी परम्परा का अतीत हमसे छीन लिया गया है, और हम अपनी इस परम्परा के प्रति अंधभक्ति का इज़हार करने के कारण न तो उसके अन्तर्विरोधों के प्रति संदेहवादी हो पाते हैं, और न ही आधुनिक प्रतीकों तथा धारणाओं के ज्ञान-औज़ारों का इस्तेमाल करके उसका पुनर्मूल्यांकन कर पाते हैं। इसीलिए हमारे इतिहास तथा मध्यकालीन सौंदर्यबोधशास्त्र में समसामयिक अर्थ लापता हो जाता है। हमारे सामने हिन्दू, मुसलमान, ब्रिटिश भारत के इतिहास हैं; वेदान्ती, शैव, सुन्नी, बौद्ध और जैन इतिहास हैं; पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, दकन के इतिहास हैं; लेकिन सामाजिक विज्ञानों से संचालित इतिहासलेखन शास्त्र (historiography) की कड़ी अभी बहुत छोटी है। मध्यकालीन सौन्दर्यबोधशास्त्र के क्षेत्र में तो हमें कम से कम ऐसी एक भी विशेष किताब नहीं

मिले जो हमारी रहनुमाई करती। अत वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रतिपादन करके ही हम भारतीय इतिहासलेखनशास्त्र का स्तर समुन्नत कर सकते हैं।

इतिहास को अतीत की आलोचनात्मक अन्वीक्षा बनते हुए लोकजीवन की स्वतन्त्रता को कहानी भी होना होगा, जिसे हर युग की सांस्कृतिक चेतना तथा बुद्धिजीवियों के कृतित्वो की व्याख्या करके एक रूप प्राप्त करना होगा। यह एक दुःखद तथ्य है कि भारतीयजन इतिहास-लेखन के प्रति भयकर ढग से उदासीन रहे हैं। मुसलमान शासकों से पहले केवल काश्मीर में इतिहास लिखने की परम्परा थी। कल्हण की 'राजतरगिणी'—जिसका हमने भी उपयोग किया है—बारहवीं शती के मध्य में लिखी जा चुकी थी। इसमें भी पुराणबोध से शुरुआत हुई है किन्तु समापन लेखक के समसमय अर्थात् ग्यारहवीं शती के यथार्थवाद में हुआ है। इसमें मूलत भाग्य, रहस्यवाद तथा अतिप्राकृतिकवाद के द्वारा 'ऐतिहासिक प्रारब्ध' के रूप में सामाजिक नियमों की तलाश हुई है। इसके समानान्तर दार्शनिक ग्रथों में भी हमें इतिहासलेखन की दूसरी पद्धति नज़र आती है (1) पहले 'पूर्वपक्ष' के रूप में प्रश्नात्मक ढग से किसी व्यक्ति या दर्शन के सूत्र को प्रस्तुत करके उसका खण्डनमण्डन करते हुए अपनी स्थापनाओं को प्रस्तुत किया जाता है जो मूलत पूर्वपक्ष का ही पुनर्मार्जन होती हैं, तथा (II) प्रतिष्ठित पूर्वग्रथों की टीकाए तथा भाष्य लिखकर उन्हे अपने रग में ढाल देना। इस तरह दार्शनिकविवाद का जो क्रम चलना था वह शताब्दियों तक को समेट लेता था।

भारतीय सौन्दर्यबोधदर्शन के क्षेत्र में भरत के रससूत्र को लेकर काश्मीर में ही सौन्दर्यतात्विक एव दार्शनिक इतिहासलेखनशास्त्र को एक साथ चलाया गया। यह एक नया इतिहास-रूप है जिसमें पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करके उसका खण्डनमण्डन होता है, कई पूर्वपक्षों को सहृदयतापूर्वक तथ्यरूप मे प्रस्तुत कर दिया जाता है, किसी पूर्वपक्ष को अपनी दार्शनिक अनुगामिता से रग दिया जाता है, अपने किसी प्रिय ग्रन्थ पर 'प्रकाश', 'लोचन', 'भारती', 'दर्पण', रूप में भाष्य लिखे जाते हैं, तथा काव्यशास्त्रलेखन की परम्परा मे सग्रहकोष तैयार किये जाते हैं। भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक, तथा विशेषरूप से भट्टलोल्लट से लेकर अभिनवगुप्त और मम्मट तथा विश्वनाथ तक ऐसा सौन्दर्यतात्विक इतिहासलेखनशास्त्र ही प्रधान इतिहास-रूप हो गया था। यह इतिहासदर्शन की प्रतिबद्धता से भास्वर है और इसमें भाग लेनेवाला प्रत्येक बुद्धिजीवी या तो दार्शनिक है अथवा विचारधारक ( ideologue )। अत प्रतिबद्धता के चुम्बकीय प्रभावों से गतिमान रसदर्शन का विकास प्रतिबद्ध विचारधारकों के बौद्धिक विवाद ( polemics ) का ही परिणाम है जिसने एक महान् बौद्धिक परम्परा को जगमगाया। एक बात और है। बौद्धिकविवाद में भाग लेने वाले ये सभी बुद्धिजीवी दार्शनिक

विचारधाराओं के पक्के तथा अनुभवसिद्ध विश्वासी थे। इसलिए ये जीवन के अन्तर्विरोधों से जूझते हैं, अपने युग की समस्याओं को समझाने की कोशिश करते हैं, तथा अन्ततः अपने ही रंग में शेष सभी को रंगारंग कर डालते हैं। दूसरा भी यही करता है, तीसरा भी; आदि आदि। भट्टलोल्लट का विरोध श्रीशंकुक करते हैं और मीमांसा दृष्टि को न्याय दृष्टि में ढाल देते हैं; श्रीशंकुक का विरोध भट्टतौत और भट्टनायक करते हैं तथा (दूसरे) अपने सांख्यदर्शन को प्रचारित करते हैं; भट्टनायक का विरोध अभिनवगुप्त करते हैं तथा भट्टनायक के सांख्य-दृष्टिकोण को अपनी अद्वैतशैवदृष्टि में रंग देते हैं; अभिनव का समर्थन मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ करते हैं और अभिनव की स्थापनाओं का कोरमकोर वेदान्तीकरण कर देते हैं। मध्यकालीन कलाशास्त्रीय इतिहास-लेखन की पद्धति यही है। हम देखते है कि इन विचारकों में इतनी गहरी अनुभूति तथा दार्शनिक प्रतिबद्धता है कि ये टीकाओं एवं भाष्यों तक में विचार के कलश छलका देते हैं। इनके पास दार्शनिक धारणाओं के बड़े खरे सिक्के हैं। एक अनूठी और बड़ी बात तो यह है कि ये सभी लोग नाट्यपुरोहित भरत को प्रमाण तो मानते है किन्तु 'रससूत्र' की व्याख्या अपनी अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धता के प्रखर अनुशासन में करते हैं। अतः प्रत्येक व्याख्या मध्यकालीन भारतीय मस्तिष्क के विकास का इतिहास है। प्रत्येक व्याख्या में प्रतीकों ( symbols ) धारणाओं ( concepts ) तथा रूपकों ( metaphors ) के नये बौद्धिक औज़ार प्रयुक्त हुए हैं जो नये अनुभव, नयी परिस्थिति, नई जीवनदृष्टि तथा नये सामाजिक सम्बन्धों की मांग की यथासंभव पूर्ति करते हैं। हम देखते हैं कि जब दर्शनक्षेत्र से किसी नये प्रत्यय का सौन्दर्यायन होता है, या जब कोई नया रूपक 'झम्म से' कला के रंगमंच पर आ धमकता है, तभी नये मानसिक क्षितिज उन्मीलित हो उठते हैं। भट्टलोल्लट ने रज्जुसर्प के आरोप के रूपक को; श्रीशंकुक ने चित्रतुरंग, मणिप्रदीप, रजतशुक्ति के रूपकों को, भट्टनायक ने त्रिगुणरूपा प्रकृति के रूपक को, अभिनवगुप्त ने शिव-शक्ति के रूपक को, पंडितराज ने परब्रह्म के रूपक का प्रयोग करके सौन्दर्यतात्विकवृत्ति के सूक्ष्म कोणों को नुकीला बनाया है। अतः इन्होंने रूपात्मक भाषा ( metaphorical language ) का प्रयोग किया है। यह भाषा धीमे विकास के मन्थर क्रम ( sequence ) को नहीं बता पाती बल्कि यह एक प्रतीक से दूसरे रूपक में छलांग ( leap ) लगाकर मस्तिष्क एवं चतना का विकास करती है। यह भाषा साम्यरूपकात्मक सम्बन्धों ( analogical relations ) से संचालित होती है तथा अन्वेपणात्मक प्रकृति वाली होती है। अतः हम दार्शनिक प्रत्ययों तथा रूपकों के संयोग से रसदर्शन को विकसित होते हुए पाते हैं।

ऐतिहासिक दर्शन की मशाल की रोशनी में मध्यकालीन संस्कृति, समाज, दर्शन, सौन्दर्यबोध-

शास्त्र तथा कला आदि एक ही आधेय की सदर्भात्मक इकाइयाँ सिद्ध होती हैं। बुनियादी तौर पर भारतीय सौन्दर्यबोधशास्त्र में सृजन की धुरी के बजाय आशसा की धुरी पर कलारथ घूमा है। आशसा को समझने के लिए मूल सदर्भ दर्शनशास्त्र रहे हैं। यथार्थवादी दर्शनों के अनुयायी आचार्य 'ज्ञान' को, तथा अद्वैतवादी दर्शनों के विश्वासी 'अनुभव' को प्रधानता देते हैं। ज्ञान को प्रत्यक्ष, कारणोत्पन्न, स्वयप्रकाश, सत्य माननेवाले मीमांसक भट्टलोल्लट 'अख्याति' और 'विपरीतख्याति' के तर्कों का उपयोग करते हैं, नैयायिक श्रीशकुक 'अन्यथाख्याति' और 'परत प्रामाण्य' के प्रति वचनबद्ध हैं, साख्यवादी भट्टनायक 'सत्ख्याति' पर जमे हैं, शैवाद्वैती अभिनवगुप्त 'आत्मख्याति' पर मुग्ध हैं तथा वेदान्ती पंडितराज जगन्नाथ 'अनिर्वचनीय ख्याति' के प्रतिपादक हैं। इस तरह 'ज्ञान' की केन्द्रीय समस्या लोकायतिकों की 'प्रत्यक्षख्याति' से लेकर वेदातियों की 'अनिर्वचनीय ख्याति' तक सवर्द्धित होती है। भट्टनायक तक यह प्रधानत 'ज्ञान' की समस्या है क्योंकि यथार्थवादी दृष्टि प्रत्यक्ष प्रमाण तथा कारणकार्य तर्क से प्रतिबद्ध है। भट्टनायक के बाद मे यह प्रधानत 'अनुभव' की समस्या है क्योंकि अद्वैतवादी दर्शन निर्विकल्पवादी ( absolutist ) एव अनन्यतावादी ( monist ) है। इस तरह भट्टनायक सधि पर खड़े है। जब तक पात्रनट का द्वैत रहा है तब तक मूलत ज्ञानानुगत दिशा रही है और जब भट्टनायक से 'नट' का तिरोभाव होने लगता है त्योंही अनुभव की अभिव्यक्ति के प्रश्न उभरने लगते हैं, और नाट्य की देश-कालद्वन्द्व-परक 'चलचित्र' की इकाई के बजाय काव्य की नाम-ध्वनि परक 'शब्दबिम्ब' की सूक्ष्म इकाई का अभिषेक हो उठता है। सौन्दर्यबोधदर्शन जब तक यथार्थवादी विचारधारा से अनुबद्ध रहता है तब तक वह 'प्रत्यक्ष' तथा 'परिणाम' के अनुशासन मे भी बधा है और 'स्वभाववादी' है। लेकिन जब वह अध्यात्मवादी धारा से अनुस्यूत होता है तब हम प्रत्यक्ष के बजाय 'दिव्यदृष्टि', जागृति के बजाय सुषुप्ति एव समाधि, तर्क ( reason ) के बजाय उन्मेष ( revelation ), कारण कार्य के बजाय दैवी सकल्प का चमत्कार ( miracle ), 'प्रमा' के बजाय 'प्रज्ञा', प्रत्यक्ष के बजाय योगज, प्रकृति के बजाय ब्रह्म, 'परिणाम' के बजाय 'विवर्त', प्रकृति के बजाय माया आदि के तथाकथित 'अलौकिक', 'लोकोत्तर' 'रहस्यात्मक', 'चमत्कारपूर्ण' जैसे विशेषणों को पाने लगते हैं। यह अवलोकन अभिनवगुप्त देते है। वस्तुत मध्यकालीन तर्कशास्त्र ( Mediaeval Logic ) का कल्पना-( यूतोपियन ) महल इन्हीं प्रत्ययों के स्तम्भो पर खड़ा है। एक ओर यथार्थवादी हैं जो इन्द्रियज्ञान की शुद्धता पर पक्का भरोसा रखते हैं तो दूसरी ओर आनन्दवादी हैं जो अतींद्रिय ज्ञान की आनन्दतात्मकता, सत्यता, ब्रह्मरूपता पर श्रद्धा से विभोर आँखें मूदे रहते हैं। वे लौकिक ज्ञान की सत्ता तथा लोक की सत्यता का ही निषेध कर देते हैं। वे भूत ( matter )

तथा गति ( motion ) के किसी भी रूप को साक्ष्य नहीं मानते। अतः मात्र चैतन्य तथा अपरिवर्तनशीलता ही उनके आधार होते हैं। वे मानवीय जगत तथा मानवीय स्व को रचना के लिए एक ऐसा कारण ढूंढ लेते हैं जो लौकिक कारण-कार्य-न्याय को भग्न कर दे; तथा निर्लिप्त भी हो। अतएव 'ब्रह्म' के रूप में ऐसा निर्विकल्प कारण प्रतिष्ठित होता है। वे 'काल' के क्रम ( sequence ), परिवर्तन ( change ) तथा क्षणिकता ( now-ness ) की सीमा को तोड़ना चाहते हैं। अतः काल के अक्ष से मुक्त ब्रह्म, परमशिव, ईश्वर, अलौकिक रसन्चर्वणा, आदि के तत्वों में सहक्रमिकता ( simultaneity ), नित्यता तथा आत्मरूपता मिलती है। वे 'देश' की भौतिकता, संघर्षजन्य दुःख, प्रत्यक्ष, अशुद्धता से मुक्त होना चाहते हैं। अतः विशुद्ध सृष्टि, प्रकाशरूप चैतन्य तथा समाधिभूत प्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा होती है। वे 'कर्म' (work) तथा 'श्रम' ( labour ) की शूद्रधर्मा वृत्ति, से भी मुक्त होना चाहते हैं। अतः संविद्विंश्रांति, निर्विघ्नप्रतीति, समाधि, आनन्द, आदि की धारणाएं मिलती हैं। वे 'व्यक्ति के बन्धन' से भी मुक्त होना चाहते हैं। अतः स्वगतत्वेन, परगतत्वेन तथा तटस्थ तीनों प्रकार के सम्बन्धों से मुक्त निर्विशेष आत्मा, सहृदयत्व, जीवन्मुक्त, साधारणीकृत, सत्वोद्रिक्त आदि सम्बन्धों की निर्मितियां मिलती हैं। सारांश में, अभिनवगुप्त के सौन्दर्यबोधदर्शन के रुख में काल के, देश के, व्यक्ति के, कर्म-श्रम के, तथा जागृति के सभी अक्षों और आयामों से पूर्णतः मुक्त होने का आध्यात्मिक आत्मछल छा जाता है। वस्तुतः दोनों धाराओं में सौन्दर्यबोधात्मक वृत्ति की 'विलक्षणता' को स्वीकार करनेवाले ज्ञान के प्रतीकात्मक औजार गढ़े तो जा रहे थे, किन्तु उनका नामकरण करने की बौद्धिक फिज़ा खत्म हो रही थी। मध्यकालीन विचारधारा ( mediaeval ideology ) की एक ही अनुशासक धारा बह चली जो अध्यात्म, इहलोक का निषेध, रहस्यवाद, अतिप्राकृतिकवाद, ब्रह्मवाद में परिणत हुई। अतः सांख्य सांख्ययोग में, वेदान्त योग में, न्याय नव्यन्याय में, पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा में परिणत हुई। यह सब शंकर के बाद ग्यारहवीं शती से हो गया। हम गलती से अब भी केवल अद्वैत-वादी दर्शनबोध को ही 'भारतीयता' की संज्ञा देने का दिग्भ्रम फैलाते जा रहे हैं। हां, यह धारा सर्वप्रधान अवश्य हो गई थी। फलतः अभिनवगुप्त के बाद दार्शनिक विवाद का वातावरण विलुप्त हो जाता है और मौलिक भारतीय मनीषा में कठिन गांठ पड़ जाती है। समाजशास्त्र का यह द्वन्द्वात्मक नियम है कि मूर्त यथार्थता से जितना ज्यादा सम्पर्क छूटेगा उतने ही अनुपात से परायापन ( alienation ) बढ़ेगा। मध्यकालीन तर्कशास्त्र ने इसे उलट कर देखा मूर्त्त यथार्थता से जितना अधिक सम्पर्क बढ़ेगा उतना ही परायापन बढ़ेगा। इस प्रकार अध्यात्मवाद विशुद्धरूपों (शिवशक्ति का

उन्मेष, 'ईश्वर' की इच्छा, आत्मा, रसानन्द) की ही अनुकल्पना करता है जहां प्रकृति तथा मनुष्य दोनों का निःश्रेयस् अमूर्तीकरण ( abstraction ) होता चला जाता है। अभिनवगुप्त से ये ही मध्यकालीन बोध शुरू हो जाते हैं। इन्हीं अमूर्तीकरणों से आत्मपरायापन ( self-alienation ) तथा देशकालव्यक्तिमुक्त निर्विकल्पों का लोक जन्म लेता है। उत्तर-मध्यकालीन सौन्दर्यबोधानुभव इन पर ही टिका है। इन्हीं कारणों से 'चमत्कार', 'लोकोत्तरता', 'विलक्षणता' 'ब्रह्मानन्दसहोदरता' आदि की तर्कपूर्व ( pre-logical ) धारणाएं स्वीकृत हुई जो निद्राचक्र ( sleep-cycle ) तथा वशीकरण ( hypnosis ) तथा मादकता ( intoxication ) की उत्तेजकताओं के अवनमित रूपायन-सी हैं। हमने इनकी गहरी छानबीन की है। मध्यकालीन तर्कशास्त्र तथा आधिभौतिक यथार्थता के समझे बगैर हम आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी-परम्परा में भी शंकर तथा विश्वनाथ की शब्दावली में ही रसनिष्पत्ति का तोतापाठ करते चले जाएंगे। हमें यह समझना चाहिए कि ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य, मुक्ति, रसानुभूति, चित्त, चित्तवृत्ति, आदि तो प्रतीकात्मक अभिव्यंजनाएं हैं जो मध्यकाल में भौतिकवाद तथा अनुभववाद से पलायन के आदर्शीकृत रास्ते थे। ये प्रतीकात्मक अभिव्यंजनाएं वस्तुतः समस्या-समाधान ( problem-solving ) की प्रक्रियाएं हैं जो धार्मिकदर्शन में अतिप्राकृतिकवाद ( super naturalism ) के रूप में उद्घाटित हुई अर्थात् ये प्राकृतिक नियमों, जागरण तथा लौकिक प्रमाणों से परे बताई गई। अतः हमें ऐसे प्रतीकात्मक कार्यों ( symbolic acts ) के ढांचे की छानबीन करना है, न कि मध्यकालीन अनुष्ठानिक समाधि में सामरस्य प्राप्त करना। मध्यकालीन दृष्टिकोण साफ है। वहां द्वैत है शरीर और जीव का, इहलोक और परलोक का, प्राणी और आत्मा का, जगत् और माया का, स्थायीभाव और रस का, भावितरस और भुक्त रस का, चिदात्मकरस और चित्तवृत्ति रूप रस का, इत्यादि। मध्यकालीन आधिभौतिक तर्कशास्त्र इनका समन्वय कराने के बजाय इन्हें देश-काल-व्यक्ति-कर्म के चारों आयामों से युक्त कराके तथाकथित अद्वैतपरक 'चमत्कार' तथा 'लोकोत्तरता' हासिल करता है। इसीलिए रस नित्य होकर भी तत्समकाल में अनुभूत होता है, क्रमपूर्ण होकर भी असंलक्ष्यक्रम से ध्वनित होता है, चित्तवृत्यात्मक होकर भी चिदात्मक आनन्दरूप होता है। असल मामला तो यह है कि सौन्दर्यबोधतत्व जैसे लौकिक भूमि वाले और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पर आश्रित विषय की यथार्थता को वे विचारक बहुत अधिक चाह कर भी नहीं मिटा सके। अतः यह अन्तर्विरोध अनाहत बना रहा। यह द्विधाविभक्ति मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण थी। इसका एक फल भी मिला जन्मान्तरवादी कर्मसिद्धान्त ने अतीत-वर्तमान-भविष्य की इकाई

"एक" कर दी, तथा संस्कार ने योग तथा चित्तवृत्ति की भावभूमि भी बना दी। इसीलिए इस सूत्र के लागू करते ही "सहृदयत्व" की दार्शनिक भूमिकाएं अधिकाधिक पल्लवित-पुष्पित हो उठीं। इसका एक दूसरा फल भी मिला: एक ओर भरत के रस सूत्र का कर्मकाण्डी साक्ष्य ढीला पड़ा। भोज ने स्थायीभाव तक को सामान्य भाव की कोटि में रख दिया, विश्वनाथ ने विभावानुभाव संचारी में से एक या दो के बिना भी रसनिष्पत्ति स्वीकार कर ली, पंडितराज ने रसात्मकता के बजाय रमणीयता का अभिषेक कर डाला। दूसरी ओर रामचन्द्र-गुणचद्र रसानन्दवादी धारा के विरुद्ध हो गए। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि रसानुभव को तो संशोधित-संवर्धित करके स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु विभाव-अनुभाव-संचारी की त्रयी को, तथा स्थायीभाव रस के सम्बन्ध को नये नये उद्बुद्ध अनुभवों तथा कलामाध्यमों के अनुपयुक्त समझा गया। यह एक 'ऐतिहासिक निश्चयता' थी जिसने अन्ततोगत्वा रससूत्र का मूल लिंग्विस्टिक या भाषिकीय ढांचा ही संशोधित कर डाला। अतः 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' विटगेंस्टाइन प्रणीत 'भाषा-क्रीड़ा' की याद दिलाते हैं। अब विभावादि के बजाय अनुकरण, अभिनय-अभ्यास तथा कविनटशक्तिकौशल की ज्यादा पहल हो गई। फलतः वैयाकरणों की शब्दशक्तियों की तरह भट्टनायक से लेकर पंडितराज तक अभिधा, भावकत्व, भोगकृत्व, विभावना, अनुभावना, समुपरंजन, व्यंजकता, रसना, चर्वणा, ध्वनन, रमणीयता आदि की नाना 'कलाशक्तियों' की पूर्ण, तथा शुद्ध, तथा अलौकिक कल्पनाएं हुईं। इसी तरह रसानुभव की प्रकृति को समझने के लिए अन्न के रूपक से शुरू करके छौंक वाली दाल, पके भात, प्रपानक रस, सिद्ध रसायन, जैसे लौकिक जीवन तथा तांत्रिक रस के क्षेत्र के सादृश्य इकट्ठे किये गए। हम आगे भलीभांति देखते हैं कि मध्यकालीन सौन्दर्यबोध-शास्त्र रसदर्शन और ब्रह्मज्ञान के साम्यरूपात्मक (analogical) सम्बन्धों की तलाश में रसदर्शन की भावधर्मता तथा ऐंद्रियिक प्रत्यक्ष से भी मुक्त होने की भगीरथ असफलता ही पाता है। हम जानते हैं कि अनुभव का केवल मात्र 'अनुभूत (felt) आयाम' ही नहीं है, बल्कि 'ऐंद्रियिक प्रत्यक्षीकरण' का भी दूसरा आयाम है, तथा इसके साथ ही एक 'तर्कगम्य' तीसरा आयाम भी है। मध्यकालीन बोध ऐंद्रिययिक प्रत्यक्षीकरण के तथा तर्कगम्यता के आयाम से अन्ततोगत्वा आज़ाद होने की धारणाओं को उभारने में तर्कपूर्व भाषा का संधान करता है। अतः संविद्विश्रांति तथा श्रद्धा के गमक प्रधान हो जाते हैं। अतः रस 'अलौकिक प्रत्यक्ष' हो जाता है। देश तथा काल का इतना संत्रस्त निषेध करके मध्यकालीन भारतीय चिन्तन ने जगत्, जीवन, आर्थिक उत्पादन की खुशहाली, समाज की यथार्थता तथा मनुष्य-का भी दुःखद निषेध कर दिया। आज की तरह ही मध्यकालीन

सौन्दर्यबोधात्मक वृत्ति का लक्ष्य भी पीडा तथा दुख से प्रयाण रहा है। पहले यह प्रयाण मनुष्य को क्षणभगुरता, आत्मछल तथा सामूहिक मिथकों की दुनिया मे भटका देता था। इनका निराकरण इच्छा तथा ज्ञान से ही हो सकता था और हो सकता है। लेकिन इन्हें 'भ्रम' बता दिया गया। अत लोकोत्तरता एव चमत्कार एव समाधि आदि ही इसके समाधान कबूल किये गए। इसलिए मध्यकालीन सौन्दर्यबोधदर्शन को समझने के लिए हमें मध्यकालीन तर्कशास्त्र, मध्यकालीन रसायनशास्त्र, मध्यकालीन ब्रह्माण्डज्ञान, मध्यकालीन प्रतीकवाद आदि का भी आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषण करना पड़ेगा। एक विशिष्ट परिस्थिति में जब 'योगी' का ऐतिहासिक महत्व भी प्रनिष्ठित हो जाता है तब 'शून्यत्व' ( nothingness zero ), और अश-अशी अथवा शेष शेषी ( parts-whole ) की गणितीय धारणाए भी अनुभूत अनुभव को प्रेषित करने की कोशिश करती हैं। हम जानते हैं कि शून्य की धारणा चक्र, नाभि, गर्भ, दशमलव से लेकर 'ब्रह्म' और 'निर्वाण' तक का समाहार करती है। यह धारणा विरोधाभासों ( par1doxes ) का पुज है। अत इसमें प्रतीक समूहों की विविधामुखी अभिव्यजनाओं की बेशुमार सहूलियतें हैं। इसी तरह अश-अशी की धारणा ब्रह्मकारणवाद को मजबूत विश्वास देने में इस्तेमाल की गई है। यह हमें निर्विकल्पों ( absolutes ) की कसौटी देती है जहा जीवन की सभी रेखाए या तो अमूर्त हो जाती हैं अथवा विराटीकृत।

इस परिप्रेक्ष्य में हम मध्यकालीन मनोविज्ञान की दार्शनिकता ( philosophic1l psychology ) को नज़रअदाज़ नहीं कर सकते। यह मनोविज्ञान सापेक्ष्य यथार्थता तथा रहस्यपरक धर्म के ध्रुवातों वाला है। लौकिक प्रत्यक्ष की नर्मिल ( rorn.il ) दशाओं से शुरु करके अनर्मिल अवस्थाओं का सामना करते हुए यह अवनर्मिल अवस्थाओं मे ही विश्रान्त होता है। भट्टलोल्लट नर्मिल प्रत्यक्ष से शुरूआत करते हैं, श्रीशकुक अनर्मिल प्रत्यक्ष ( मणिप्रदीप न्याय ) में दैवसयोग तत्व ( ch1nce factor ) की गणना करते है, तथा भट्टनायक अवनर्मिल उदात्तीकरणों की समावना का द्वार खोलते है। अभिनवगुप्त से लेकर जगन्नाथ पडित तक प्रत्यक्षीकरण को रहस्यात्मक अवनर्मिल ( abnormal ) मनोवैज्ञानिक प्रपत्तियों से नत्थी कर दिया जाता है। अब लौकिक प्रत्यक्ष के बजाय अलौकिक प्रत्यक्ष, जागृति के बजाय तुरीयावस्था, और यथार्थता के बजाय भ्रान्ति की भूमिकाए बढ़ने लगती है। इसी सामूहिक मनोवृत्ति की देन का विचित्र व्यक्तिवादी नतीजा है कि जागृति, प्रत्यक्ष तथा चेतना के मनोविज्ञान के बजाय वशीकरण ( hypnosis ), मायावरण ( hallucination ) तथा समाधि ( tr1nce ) की अवनर्मिल दशाओं में विचित्र सत्य तथा अनुभव, प्रत्यक्ष तथा बोध ढूढे और समाहित किये जाते हैं। मध्यकालीन मनोविज्ञान दर्शन में इन उपकरणों की पहल

को रेखांकित करना होगा जिसकी वजह से हमें बारम्बार 'चमत्कार', 'लोकोत्तरता', 'सत्वोद्रेक' आदि के परिणाम मिलते हैं। हमने पावलोवीय तथा व्यवहारवादी तथा प्रायोगिक मनोविज्ञान-धाराओं के आधार पर विस्तारपूर्वक रसानुभूति में बाह्य एवं आन्तरिक उत्तेजकों (stimulus) असाहचर्य प्रक्रिया ( dissociation process ), विभक्त मस्तिष्क की सह-चेतन क्रियात्मकता ( co-conscious activity of the split mind ) की भूमिकाओं को विशेषतः उद्घाटित किया है। एक दिलचस्प उदाहरण दिया जा सकता है : शमन ( inhibition ) तथा अमूर्त्तन ( abstraction ) तथा उदात्तीकरण ( sublimation ) के कारण ही नन्हे से 'दीपक' के प्रकाश का उत्तेजक कई प्रतीकों में ढलते-ढलते अन्तत 'प्रकाशरूप ब्रह्म' या 'परमशिव' हो गया ; अथवा दुःख से पलायन की मानवीय वृत्ति 'मुक्ति' तथा 'आनन्द' में परिणत हो गई। अतः 'दीपक' और 'दुःख' के विषयों के इर्दगिर्द आध्यात्मिक अनुभवों की स्कीमें तथा सामूहिक मिथकें गुंथी हैं। सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार मध्यकाल में धार्मिक अनुभूति के दो महत्तम रूप मिलते हैं : रहस्यात्मक ( mystical ) एवं अवतारी ( prophetic )। सौन्दर्यबोधानुभव में — वैष्णव सौन्दर्यबोधदर्शन के अलावा — पहली अनुभूति ही प्रतिष्ठित रही है जिसमें निःश्रेयसता ( passivity ) तथा समाधि (contemplation ) प्रधान है। मध्यकाल में इस अनुभूति का सम्बन्ध नित्यता ( eternity ) से जुड़ गया और इसकी अतिप्राकृतिक सिद्धि पर विश्वास भी जम गया। रहस्यानुभूति में भविता ( being ) तथा अनुभूति ( feeling ) केन्द्र होते हैं। भारतीय दर्शन तथा कला में वर्त्तमान क्षण को अमर कालविहीनता में बदलने या रूपान्तरित होने की साधना प्रधान है। अतः काल के प्रभाव को रोक देना मानवीय तर्क और यथार्थ की सीमा के परे है। इसका नतीजा तो मृत्यु से छुटकारा है। दार्शनिक शब्दावली में यही संस्कार का प्रशमित उदात्तभोग तथा कर्मचक्र से मोक्ष प्राप्त करने का लक्ष्य अर्थात् 'योग' हो गया। 'काल' और 'मृत्यु' से मुक्ति प्राप्त करने वाले 'योगी' की ऐतिहासिक महत्ता यही है। सौन्दर्यबोधानुभव में रसानन्द को इसी सादृश्य से निरूपित किया गया। इस तरह योगी की साधना और सहृदय की रससाधना लगभग एक कोटि की हो गईं : एक रूप नहीं, सहोदर-रूप।

इन परिस्थितियों में मध्ययुगीन व्यक्तित्व-धारणाओं ( theories of personality ) का उद्भव हुआ जिनका प्रतिपाद्य प्रशिक्षित ( trained ) 'आशंसक' रहा। आशंसक के नामकरण स्वयं सामाजिक मनोविज्ञान का क्रमिक विकास हैं। भरत ने 'सुमनस् प्रेक्षक' पर बल दिया है जो यथार्थता के कलात्मक रूपान्तरण का तदनुकूल अन्तरानुभूति ( empathy ) से प्रत्यक्षीकरण कर सके। यह प्रेक्षक सामूहिक जन हैं जिसमें भावात्मक दशाएं उत्पन्न हो

साथ कुमारिल, शङ्कर और सरहपाद का उद्भव हुआ। हमने इस त्र्यणुक क्रान्ति का एक बड़े रिनैसा-पटल पर सर्वेक्षण किया है। इनमें से पहला 'ज्ञान' का, दूसरा 'ब्रह्म' का तथा तीसरा 'सहज सुख' का अनुष्ठापक था। त्र्यणुक क्रांति ने अपना असर बारहवीं तेरहवीं शती मे दिखाया जब 'योगी' तथा 'सिद्ध' तथा 'नाथ' तथा 'वीर' का आपस मे पर्यवसान हो गया और इसका विपाक 'रसिक-महृदय' में हुआ। उस युग में सामन्त और सुमन्त्री का समीकरण टूट गया, तथा एवज़ मे सामन्त और सिद्ध का नया अनिप्राकृतिक, अन्धविश्वासी रहस्यात्मक समीकरण बना। भोज के रस सिद्धान्त में यह प्रक्षेपण ध्यानव्य है। पण्डितराज जगन्नाथ का आविर्माव मोगल शासन के उस चरण में हुआ जब 'विचार' ( idea ) को वास्तुकला के भव्य, महान् तथा विराट् पाषाण-शब्दों ( ताजमहल, जामामस्जिद, मोती मस्जिद, दिल्ली किला आदि ) में ढालकर चमत्कार उत्पन्न किया गया, तथा एक लौकिक फोंपडी की तुलना मे ये अलौकिक आलीशान इमारते बुलद की गई। अत पडितराज जगन्नाथ को अपने हिन्दुस्तानी सांस्कृतिक पैटर्न की सामान्यता ( generality ) के बीच 'शब्द' और 'रमणीयता' का अभिषेक करना पडा। इस तरह समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा अध्यात्मशास्त्र को निथारने तथा छानने पर ही मध्यकालीन सौन्दर्यबोधशास्त्र की लगभग सारी रहस्य-मणिया हस्तामलकवत् हो जानी है, तथा ये नये रूप मे आधुनिक भारतीय मानस को ज्ञानगोचर भी हो सकती है।

इस सम्पूर्ण लालित्य के विश्लेषण की सबसे गम्भीर तथा गूढ ग्रंथि इन मध्यकालीन सौन्दर्यबोधशास्त्रियों के मस्तिष्क की पुनर्रचना ( reconstruction of the minds ) की है। यदि इन बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की पुनर्रचना कर ली जाती है तब हम अपने वर्तमान अर्थ को भी सार्थक कर लेते है, उन सौन्दर्यतत्ववेत्ताओं के व्यक्तित्वों की अन्तर्मुखता में झांक लेते है, उनकी सामाजिक स्थिति, नैतिक एव दार्शनिक प्रतिबद्धताओं ( commitments ) से पूर्णत परिचित हो जाते है, तथा हम स्वय अपना भी—इस प्रक्रिया में—नवोन्मेष कर लेते है। यह ऐतिहासिकबोध है। इसमे यन्त्रणा है, कामना है, दर्शन है, विज्ञान है, कला है, उन्मेष है तथा उत्कर्ष है। भारतीय मध्यकालीन बौद्धिक आचरणों में रूढ़संहिता ( dogma ) के आधार शेष सभी मतों को धराशायी कर देना, नास्तिकों तथा लोकायतिकों के सारे साहित्य को जला देना, किसी अन्य की स्थापनाओं को बिलकुल दूसरे सांचे में ढाल देना, कभी-कभी गुमनाम हो जाना आदि, की प्रधानता थी। इसलिए मध्यकालीन बुद्धिजीवियों के मस्तिष्कों की पुनर्रचना सबसे जटिल, जोखिम तथा ज्योतिर्मय कार्य है। मैंने इतिहासलेखनशास्त्र तथा इतिहासदर्शन की पद्धतियों का संयोग करके यह काम पूरा करने

का हौसला किया है। उत्तर-मध्यकालीन बुद्धिजीवी ब्रह्म ( idea ) तथा माया ( subjective world ) के अधिनायकत्व तथा संयोग से सृष्टि करते थे; और स्थूल तथा प्रत्यक्ष तथा परिवर्तन के संस्पर्श को भ्रम तथा अज्ञान मान बैठते थे। आज हम पदार्थ तथा टैक्नालाजी के द्वारा ही सृष्टि करते हैं। अब 'शक्ति' विचार का नहीं, बल्कि पदार्थ का सर्वोच्च रूप है। न्यूक्लियर भौतिकशास्त्र की नींव ही पदार्थ ( भूत ) के शक्ति में रूपान्तरण पर पड़ी है ( $E=mc^2$ )। अतः पदार्थ ही रवीकृत शक्ति ( crystallized energy ) का भंडार है। अतः आज हमें 'रस' और 'ब्रह्म' की निर्विकल्प-धारणाओं का विश्लेषण ज्ञान के नये औज़ारों से ही करना होगा। हमें आधुनिक होकर ही मध्यकालीन मानस को समझना होगा। यही हमारी विजय है, यही हमारा ऐतिहासिकबोध है। सन्देह और अन्वेषण, विज्ञान और तर्क, संस्कृति और विचारधारा, प्रतीक और धारणाएं हमारे औजार हैं। आधुनिक हुए बिना हम मध्यकालीन संस्कृति को केवल निरूपित तथा प्रशंसित ही कर सकते हैं। हमने तो मध्यकालीन सौन्दर्यबोधशास्त्र को समसामयिक अर्थ देने का निर्णय किया है। इसीलिए हमने भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की अन्तश्चेतना की जीवनी लिखी है; तथा मध्यकालीन भारतीय मस्तिष्क के विकास का इतिहास भी प्रकाशित किया है। अगर मध्यकाल में कोई रहस्य है भी, अथवा कोई गूढ़ता है, तो हमें उस समस्या का समाधान करने की चुनौती स्वीकार करना चाहिए, न कि आधुनिक मानस को प्राचीन मानस से भी ज्यादा अक्षम मान लेना चाहिए।

आज हमें उपर्युक्त समस्याओं की आधुनिक व्याख्याओं तथा पुनर्निर्मितियों में जुटना है। हमें मुख्य रूप से मध्यकालीन सौन्दर्यबोधात्मक वृत्ति तथा सौन्दर्यबोधानुभव के छोरों को एक-संवलित करना है। हमारी समस्याएं दार्शनिक अथवा इतिहास लेखनशास्त्र के क्षेत्र की हैं। हमारा बोध आधुनिक रहा है और हमने द्वन्द्वमान की तर्कपद्धति का व्यवहार किया है। जब भट्टतौत श्रीशंकुक की कट्टर आलोचना कर सकते हैं, महिमभट्ट अभिनवगुप्त का खण्डन कर सकते हैं, श्रीशंकुक भट्टलोल्लट को धराशायी कर सकते हैं, तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र पूरी परम्परा से ही विद्रोह कर सकते हैं, तब कोई कारण नहीं हैं उनके वंशज होकर भी हम केवल जयजयकारी चर्या एवं लीला-पद गाएं। अतएव इस शानदार विरासत को हम भी उतनी ही महत्वपूर्ण सामाजिक अनिवार्यता के साथ ग्रहण करें। हमेशा ही ऐसा ग्रहण समसामयिक होता है, नये मूल्य रखता है, तथा रूपान्तर करता है। इसी के चलते यदि भरतमुनि संमत लोकरस की परिणति 'ब्रह्मानन्दसहोदररस' में हुई; तो रससूत्र के विभावादि-त्रय अथवा क्रम की अस्वीकृति भी हुई। इसी वजह से भरत ने कलाओं के जिस सौन्दर्यबोधात्मक सामूहिक अन्तर्सम्बन्धों से समारंभ किया था उसी की परिणति काव्य के सौन्दर्यबोधशास्त्र ( न कि काव्यशास्त्र ) में

होती है। अन्ततोगत्वा 'रस' के एकाधिकार को 'रमणीयता' चुनौती देती है। यह एक वक्रगामी मानसिक विकास है। किन्तु हमें इसके अन्तर्विरोधों एवं विरोधाभासों, अमूर्तनों एवं निर्विकल्पों की उलझनों की चुनौतियों की लीपापोती को भी बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से देशकाल का निषेध करके भी हम व्यवहारतः देशकाल से ही सत्तावान हैं, और सौन्दर्यबोधशास्त्र तथा काव्यशास्त्र का अस्तित्वपरक मनुष्य ( existential man ) की ही सबसे खूबसूरत और महबूब सामूहिक मूल्यवान धरोहर है।

शिल्पी—आचार्य नंदलाल वसु

—श्रीविश्वरूप वसु के सौजन्य से

# वैदिक साहित्य में कवयित्रियों की परम्परा

**राजेन्द्र मिश्र**

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद का स्थान काव्यात्मक दृष्टि से वरीयान् है क्योंकि स्वतन्त्र रूप से देवों की स्तुति-वन्दना एवं प्रशस्ति-गान का संकलन इसी में प्राप्त होता है। यजुर्वेद यज्ञ एवं कर्मकाण्ड से अधिक सम्बद्ध होने के कारण, काव्यात्मकता से परे, एक पृथक ही सत्ता रखता है। सामवेद की काव्यात्मकता भी, जो कुछ है, वह ऋग्वेद के ही कारण, क्योंकि इसके अधिकांश सूक्त ऋग्वेद से ही समाहृत एवं सङ्कलित हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद, जिसका प्रतिपाद्य विषय ही, जादू-टोना, झाड़-फूँक एवं मन्त्राभिचार इत्यादि है, में काव्यगत भावनाओं के अस्तित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता।

हम 'ऋग्वेदसंहिता' में काव्यात्मकता स्वीकार करते हैं। हृदय के समयापेक्षित पवित्रोद्गार को ही हम, एक विशिष्ट दृष्टि से कविता की संज्ञा देते हैं। यद्यपि ऋग्वेद के ऋषियों और अन्य प्रणेताओं को, वेद के अपौरुषेयत्व के कारण, सूक्तों एवं मन्त्रों का कर्ता नहीं माना जाता है[1], तथापि उन विशिष्ट मंत्रों अथवा सूक्तों के अस्तित्व का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने, समाधि की स्थिति में, उन-उन देवों के स्वरूप से अपनी बौद्धिक-चैतसिक तथा शारीरिक एकतानता स्थापित की, और अनायास ही उनकी प्रशस्तियों का साक्षात्कार किया, अतः वे उन प्रशस्तियों के द्रष्टा हुए, न कि सोच विचारकर तथा मनःस्थिति ( Mood ) का संविधान स्थापित कर कविता रचनेवाले लौकिक कवि।

'ऋग्वेद' में, जहाँ हम आरण्यक ऋषियों एवं कुछ विशिष्ट देवों को भी, 'मन्त्रद्रष्टा' के रूप में पाते हैं वहीं कुछ ऋषिपत्नियों, देवियों तथा विदुषी ऋषिपुत्रियों को भी 'मन्त्रद्रष्ट्री' के रूप में देखते हैं। इस स्थल पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि—'क्या ये मंत्रद्रष्ट्री ऋषिबालाएं 'कवयित्री' कही जा सकती हैं'? इस प्रश्न के उत्तर में, एक पूर्वप्रश्न पर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है। वह यह कि—'क्या वैदिक ऋचाएं कविता हैं?' यदि 'हाँ' तो वे ऋषिबालाएं अवश्य ही 'कवयित्री' पद के योग्य हैं। आगे कविता संबंधी पंक्तियों में हमने यही सिद्ध करने की चेष्टा की है, कि ऋग्वेद में कविता की अमन्द मन्दाकिनी है, और इसी प्रकार कवि एवं कवयित्रियाँ भी हैं। एक बात और—वैदिक साहित्य पर आज तक जितने भी अनुशीलन-परिशीलन हुए, चाहे भारतीय आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा अथवा तदितर विदेशी

---

१. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः न तु कर्तारः।

विद्वानों द्वारा, ( कुछ विशिष्ट ) वैदिक ऋचाओं की काव्यात्मकता सबने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। कुछ उद्धरणों से इस तथ्य की पुष्टि भी हो जायेगी।

उषस् सूक्त में ( चतुर्थमण्डल का ५१वाँ सूक्त ) प्रकृति का वर्णन जितना मनोहर एवं यथार्थ है, वह किसी भी सहृदय को बलादाकृष्ट कर लेने में सर्वथा सक्षम है। उदाहरणार्थ—

> इदमुत्यत्पुरुतम पुरस्ताज् ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
> नून दिवो दुहितरो विभातीर् गातु कृणवन्नुषसो जनाय॥

हिन्दी भावानुवाद से, यह काव्यात्मकता अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

> अरुणप्रभापटरञ्जित प्राची।
> देखो, यह नवज्योति तमस् से उबर धरा पर आती।
> दिव दुहिता यह उषस् विभाती जनहित पथ बनाती॥
> चिर परिचित जनता की॥२

काव्यात्मकता के विषय में केवल एक ही पद्य और देना चाहता हूँ। वह है—'द्यूतकार सूक्त, ( ऋग्वेद—१०-३४ ) जिसमें व्यक्त भाव आधुनिक जैसा लगता है। साथ ही साथ यथास्थान अलङ्कारों का प्रयोग, इसे और भी उत्कृष्ट बना देता है। जुआरी का मूल कथन तथा अनुवाद देखिए

> द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
> अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥
> यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
> न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥

भावानुवाद		ऋक् १०-३४-३-२

> आँख फूटती है मुझे देख, सदा सास की
> दुलहिन भी कभी कभी, दूर रोक रखती है,
> हाय रे! जुआरी कहीं दयावान् पाता नहीं
> बूढ़े औ बिकाऊ एक घोड़े की भाँति ही,
> बिल्कुल बेकार हूँ!

---

२ 'ऋक्सूक्तसंग्रह' ( लेखकद्वारा अनूदित संग्रह )।

कभी जब करता हूँ, मन में संकल्प यह
उन सबके संग अब, कभी नहीं जाऊँगा
इन कितव सखों का संग न निभाऊँगा,
हाय दैया! सुनते ही भूरे बहेड़ों की
ठकरठक्क-दाँवपेच
भाग कर पहुँचता हूँ, निश्चित स्थान पर
जैसे कुलटाएँ चलाया करती हैं दाँव-पेंच ॥३

इस प्रकार, इन अंशों से स्पष्ट है कि वैदिक ऋचाओं में काव्य अवश्य है। यदि यमयमी-संवाद सूक्त (दशम मण्डल का दशम सूक्त-ऋग्वेद) में श्रृङ्गार रस का परिपाक है तो मण्डूक सूक्त में (ऋग्वेद-७-१०३) हास्य रस का। यदि 'वरुणसूक्त' (ऋग्वेद-७-८६) में करुण रस की धारा दृष्टिगोचर होती है तो 'नासदीयसूक्त' (ऋग्वेद १०-१२९) में शान्त रस की। मरुतों की वीरता में हमें वीर रस की अनुभूति होती है (ऋग्वेद १-८५) और रुद्र की रौद्रता में रौद्र रस की (ऋग्वेद २-३३)। कोई भी ऐसा रस नहीं है, जो वेद वाङ्मय में परिलक्षित न होता हो, और न कोई ऐसा मौलिक अलङ्कार ही है, जिसकी कन्दली हम ऋग्वेदवाटिका में न देखते हों। वैदिक ऋचाओं में निस्सन्देह काव्य है और इसी कारण उनके द्रष्टा ऋषि एवं ऋषिपत्नियाँ भी कवि एवं कवयित्री हैं।

दशमण्डलीय ऋग्वेद में, अनेक स्थान ऐसे हैं, जहाँ सूक्तों का आलोक प्राप्त करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख हुआ है। कवयित्रियों की एक ऐसी ही नामावली, आचार्य शौनक ने अपने दोनों ग्रन्थों (बृहद्देवता, अध्याय २, श्लोक ८४, ८५ तथा ८६; आर्षा० मण्डल १०, श्लो० १००, १०१ तथा १०२) में प्रस्तुत की है। इन्हें वे 'ब्रह्मवादिनी' की संज्ञा देते हैं। सूची इस प्रकार है—

गोधा घोषा विश्ववारापालोपनिषन्निषत् ब्रह्मजाया जूहूर्नामागस्त्यस्यस्वसादितिः॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती॥
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धामेधा च दक्षिणा रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः॥"

इनमें से अधिकांश स्त्रियाँ कवयित्रियों की कोटि में आती हैं जिन पर हम प्रकाश डालेंगे। शेष स्त्रियाँ देवता हैं या केवल उल्लिखित भर हैं। अतः वे हमारी निबन्ध-परिधि में नहीं आतीं।

३. वही।

इन स्त्रीपात्रों को हम दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम कोटि में वे कवयित्रियाँ आती हैं, जो किसी न किसी देवता की पत्नी हैं, माँ हैं या भगिनी हैं। इस कोटि में कुछ ऐसी भी कवयित्रियाँ हैं, जो वास्तव में, 'हैं तो अमूर्तभाव' किन्तु उन्हें जीवित मानकर, देवी सदृश माहात्म्य देकर, ऋषियों द्वारा उनके विषय में उद्गार प्रकट किए गए हैं, अथवा स्वयं उन्होंने कुछ कहा है। इस प्रकार के भावात्मक नारीपात्रों को, पाश्चात्य मनीषी मैकडोनेल ने अमूर्त देव या देवी (एबस्ट्रैक्ट डीटीज़) की संज्ञा दी है।४ उन्होंने विचार प्रकट किया है कि महामहिमशाली देवताओं एवं देवियों की उपाधियाँ (एपिथैट्स) ही कालान्तर में अमूर्त देव या देवी बन गए। इसी प्रसंग में मैकडोनेल साहब ने एक नवीन मन्तव्य और व्यक्त किया है कि अमूर्त देवी देवताओं के दूसरे तथा लघुतर वर्ग में भाववाची संज्ञाओं के मानवीकरण आते हैं। दशवें मंडल में ऐसे सात या आठ देवता मिलते हैं।५ उदाहरण में उन्होंने मन्यु, श्रद्धा, अनुमति आदि नाम गिनाए हैं।

यद्यपि मैकडोनेल साहब का प्रस्तुत मत वैदिक देवताओं के विषय में है न कि ऋषियों (तथाकथित कवयित्रियों) के विषय में, और इसी कारण वह हमारा आलोच्य विषय भी नहीं। किन्तु इतना होने पर, कुछ सूक्त ऐसे भी हैं, जिनके देवता ही नहीं वरन् ऋषि भी अमूर्त ही हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद 'दशम मण्डल का १५१ वां सूक्त, जिसकी अधिदेवता 'श्रद्धा' तथा कवयित्री भी 'श्रद्धाकामायनी' है। इस स्थल पर मैकडोनेल एवं ब्लूमफील्ड प्रभृति विद्वान कवयित्री को भी 'कोरीकल्पना' ही मानते हैं। उनका यह मत सर्वथा भ्रामक, एवं असंगत-सा प्रतीत होता है। श्रद्धाकामायनी की ऐतिहासिकता प्रसंगानुसार हम आगे सिद्ध करेंगे, किन्तु यहाँ इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि प्राचीन वैदिक साहित्य का कोई भी सूक्त या कथानक, सर्वथा रूपात्मकमात्र (allegory) नहीं कहा जा सकता। उसकी कोई न कोई सुदृढ़ ऐतिहासिक आधार-शिला अवश्य है, भले ही कोई, अविश्वास, अनास्तिक्यबुद्धि या अज्ञानवश उसे आत्मसात् न कर सके।

हमें यह कहने में, कुछ भी संकोच न होना चाहिए कि अनेक मनीषियों ने भारतीय काव्यपरम्परा को अन्तरङ्ग दृष्टि से न ग्रहण कर सकने के कारण, स्थान स्थान पर बड़ी भूलें की हैं। कहीं कहीं पर उनकी यह 'अनधिकारचेष्टा' अत्यन्त हास्यास्पद भी प्रतीत होती है। उनकी दृष्टि में सारा ऋग्वेद 'कपोलकल्पना' मात्र है, 'गडरिया का गीत' है। मैकडोनेल का

---

४ ए वैदिक रीडर फार स्टूडेंट्स (भूमिका), औक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ ××।

५ वही पृ० २१।

'अमूर्तदेव' विषयक मत हम देख ही चुके हैं। 'यमयमी' के विषय में एक विद्वान का कथन है कि वे देवी देवता हैं ऋषि नहीं हैं। वे कथोपकथनसूक्त के पात्र मात्र हैं।' सूर्या सावित्री के विषय में उनका यही कथन पुनः द्रष्टव्य है—'वह देवी है ऋषि नहीं हो सकती।' श्रद्धाकामायनी के विषय में भी वे दूसरों की ही भाँति कहते हैं—'यह एक भाववाची संज्ञा है जिसका अर्थ विश्वास है।' और सार्पराज्ञी' ( मण्डल १०-१८९ ) के विषय में तो उनकी प्रचण्ड घोषणा है कि—'यह मत भ्रामक है क्योंकि सर्प सूक्त रचना नहीं कर सकते'। इसी प्रकार देवशुनी सरमा, तथा नदियों के विषय में भी उनके इसी प्रकार के मत होंगे।६

किन्तु ये घोषणाएँ तार्किक दृष्टि से पूर्णतः निराधार हैं। यमी, सूर्या-सावित्री, देवमाता आदि को कौन नहीं जानता कि वे 'देवी' ( Goddess ) हैं, किन्तु देवी होने का, यह प्रमाण कहाँ लिखा है कि वह 'ऋषि' नहीं हो सकती ? इन वाक्यों को लिखते समय शायद इन विद्वानों को यह प्रमाण भूल ही गया कि 'मन्त्रद्रष्टा' या द्रष्टी होने के ही नाते हम उन्हें 'ऋषि' कहते हैं। शायद, एवंवादी शोधक सुधियों के मत में, अरण्यवासी, लंबी दाढी एवं मूँछ वाले तपस्वी ही ऋषि हैं।

सार्पराज्ञी देवशुनी सरमा तथा नदी का प्रश्न भी विचारणीय है। हमने पहले ही, यह स्वीकार किया है कि वैदिक आख्यान, कुछ तो सर्वथा ऐतिहासिक, कुछ सर्वथा रूपात्मक ( यद्यपि वे भी निराधार नहीं हैं ) तथा कुछ ऐतिहासिक प्रामाणिकता एवं रूपात्मकता के मञ्जुल समन्वय हैं।

भगवान् वामन के पादप्रक्षालन से प्रवाहित होने वाली, अतः ( इसी कारण ) समस्त दुरितापनोदिनी गंगा को जब हम असंख्य कल्याणों का मूल मानते हैं, तो हमारी यह मान्यता क्या निर्मूल है ? क्या वलि-वामन वृत्तान्त में कोई सत्य ही नहीं। क्या गंगाजल में, आज के वैज्ञानिक भी अद्भुत गुण नहीं देखते ? इतनी सत्यताओं के होने पर भी जब कोई कवि कुछ लिखने वैठता है तो किसी भी तीखे या मीठे सत्य को नंगा नहीं छोड़ देता। उसमें, कल्पना, कथानक, एवं आत्मभाव का समावेश कर ही देता है। हम इसी दृष्टि से, उपर्युक्त सूक्तों को भी, वास्तविक घटना से युक्त किन्तु ईषद्रूपात्मक स्वीकार करते हैं। दूसरी बात, 'वैदिक सर्पराज्ञी-सरमा एवं नदी' केवल सर्प, कुतिया एवं नदी ही नहीं हैं, उनका अपना एक पृथक् ही सजीव व्यक्तित्व है, वे मनुष्य योनि से श्रेष्ठ हैं, वे देवता हैं।

---

६. द्रष्टव्य—श्री रामनारायण राय का शोधप्रबन्ध 'ऋग्वेद के देवता' ( प्रयाग विश्वविद्यालय सन् १९५४ ई० ) में उद्धृत देवता विषयक सामग्री।

इस प्रकार, प्रथम कोटि की कवयित्रियाँ, 'देवियाँ' हैं चाहे वे मूर्त हों (अर्थात् किसी) देव से सम्बद्ध) चाहे अमूर्त (अर्थात् उपाधियों, नामों अथवा भावों का मूर्तीकृतरूप) समस्त ऋग्वेद में इस प्रकार की, लगभग दश कवयित्रियाँ हैं, जिनका विवरण क्रमश इस प्रकार है—

## १ यमी

ऋग्वेद, दशम मण्डल का दशमसूक्त 'यमयमी सवाद' नाम से प्रख्यात है। यम तथा यमी दोनों 'विवस्वान्, अर्थात् सूर्य की सन्तान हैं। वे परस्पर भाई बहन भी हैं। यमी, सदाचार की पवित्र मर्यादा को ठुकरा कर, यम से प्रणय याचना करती है, वह यम को तर्क के बलपर पराजित करना चाहती है, और कहती है कि 'यम माता की कोख से ही उसका साथी है, अत आकाश एव पृथ्वी सब उन दोनों के सबन्ध को जानते हैं। देवता होनेके कारण उन्हें वाञ्छित कामना की पूर्ति का अधिकार भी है। जिस भाई के रहते, उसकी बहिन अनाथा रहे वह भाई कैसा और वह बहिन भी कैसी जिसके रहते भाई का दुख दूर न हो आदि'। किन्तु मनस्वी यम अपने सदाचरण से विचलित नहीं होता है। वह वारम्बार यमी को, सर्वशक्तिमय एव सर्वव्याप्त देवों का भय देता है और यमी के स्पर्श से भी दूर रहने की बात कहता है। यमी रुष्ट होकर यम को दुर्बुद्धि कह देती है।

यह सूक्त 'यमयमी' सवाद कहा जाता है। नारीहृदय की दुर्बलता का एक अतीव चित्र इस वृत्तान्त से स्पष्ट हो उठता है, जिसमें सदाचार, परलोकभय, प्रणय, बोध, मनस्विता आदि जाने कितने तत्त्व गुथे हुए हैं। प्रस्तुत सूक्त में कुल चौदह त्रिष्टुप् छन्द हैं। नाट्याभ्युदय की दृष्टि से, सवादसूक्त के रूप में, यह अश सर्वदा विद्वत्प्रिय रहा है।

दसवें मण्डल के ही १५४ वे सूक्त मे भी, कवयित्री रूप में यमी का नाम आया है। इन सूक्तों में, अनुष्टुप् छन्दों में पाँच मन्त्र आए हैं, इस सूक्त में यमी ने 'भाववृत्त' देवता की वन्दना की है, तथा प्रेत को उन्हीं पुरुषों के पास जाने की प्रेरणा देती है, जो तप के बल से स्वर्ग पहुँचे हैं, जो सग्राम में वीरगति पा चुके हैं, जिन्होंने (भूतल पर) प्रचुर दक्षिणा दी है, और जो पुण्यवान् रहे हैं। अन्तिम मन्त्र, यम को सम्बोधित करके कहा गया है—

> 'सहस्रणीथा, कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
> ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥'

वैचारिक दृष्टि से स्पष्ट है कि यमी के ये गम्भीर शब्द उसकी प्रेमकथा के परवर्ती ही रहे

होगें। किन्तु यहाँ 'प्रेन' का तात्पर्य कुछ गूढ़-सा लगता है ( शायद इसका अर्थ पाप से हो ? ) इन दोनों सूक्तों की प्रामाणिकता आर्षानुक्रमणी, दशम मण्डल के ४ एवं ७९ श्लोक में आचार्य शौनक ने दी है। वृहद्देवता ( ६-१५५ ) में भी—

मैथुनार्थमभीप्सन्तीं प्रत्याचष्टे यमीं यमः।
ओचित्सखायं संवादो विवस्वत्सु तयोस्तयोः ॥'

कह कर आचार्य शौनक ने सूक्त की प्रामाणिकता मानी है।

## २. सूर्या सावित्री

दशम मण्डल का ८५ वां सूक्त, अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्-जगती एवं वृहती छन्दों में प्रणीत ४७ मन्त्रों का संग्रह है। इसमें सविता की ( सूर्य ) पुत्री 'सूर्या सावित्री' कवयित्री है। इस कविता की शैली वर्तमान युग की आत्मकथापरक अथवा 'डायरी शैली' जैसी है। सूर्या सूर्य की पुत्री थी, सोम ( चन्द्रमा ) उसके पूर्व प्रणयी थे, किन्तु सूर्या का विवाह अश्विनीकुमारों के साथ होता है। इसी वृत्तान्त को लक्ष्य करके कवयित्री 'सूर्याविवाह' का एक मनोरम दृश्य प्रस्तुत करती है। स्थान-स्थान पर कवयित्री स्वयं उत्तम पुरुष में बातें कहती है।७ और शेष कविता में अन्यपुरुष बन कर वृत्तान्त का वर्णनमात्र करती है। यह एक 'काव्यरूपक' है जिसमें वर-वधू, आशीर्वाद देने वाले वृद्ध आदि सब भाग लेते हैं। विवाह संस्कार की दृष्टि से कविता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

लौकिक संस्कृत साहित्य में, महाकवि कालिदास ने, वधू का पतिगृह में जो कर्त्तव्य स्थिर किया ( द्रष्टव्य शाकुन्तल ४ अङ्क 'शुश्रूषस्व गुरून्' इत्यादि ) उसका मूल हम सूर्या की वाणी में ही प्राप्त करते हैं। वेदयुगीन वधू का यह पवित्र आदर्श दर्शनीय है।

"अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४४॥
इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥४५॥
साम्राज्ञी श्वसुरे भव साम्राज्ञी अधि देवृषु ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी श्वश्रुवा भव ॥४६॥

---

७. आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विशशं नो भवद्विपदे शं चतुष्पदे ॥४३॥

और सपत्नीबाधन के लिए प्रार्थना करती है। पतिव्रता नारियों को, पति का बहुपत्नीत्व कितना असरता है, इसकी सहज व्यञ्जना इन्द्राणी के इन शब्दों से हो जाती है—

न ह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन् रमते जने।
परामेन परावत सपत्नीं गमयामसि ॥४॥

अर्थात् "सपत्नी किसी के लिए ( स्त्री विशेष ) प्रिय नहीं होती, इसलिए मैं उसका नाम तक नहीं लेती। मैं उसे दूर से दूर भेज देना चाहती हूँ।" इसके बाद भी इन्द्राणी, अपने पति से भी प्रार्थना करती है कि 'जैसे जल ( सर्वदा ) नीचे की ओर ( ही ) गमन करता है, जैसे गौ बछड़े की ओर ( ही ) जाती है, ठीक उसी प्रकार हे स्वामिन्! तुम्हारा मन मेरी ओर गमनशील हो।'१० परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य मे, महाकवि भवभूति ने 'पुरन्ध्रीणां चित्त कुसुमसुकुमार हि भवति' द्वारा जो व्यञ्जना प्रस्तुत की थी, वही भाव कवयित्री इन शब्दों मे प्रकट करती है।

इन्द्राणी की कविता का तृतीय स्थल ( दशम मण्डल १५९ सूक्त ) भाव की दृष्टि से उपर्युक्त सूक्त का उत्तरार्ध कहा जा सकता है। यहाँ कवयित्री का नाम 'शची पौलोमी'११ है। पौराणिक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि 'शची' इन्द्र की पत्नी तथा 'पुलोमा राक्षस की कन्या थी १२ इसीकारण उसका अपर नाम, 'पौलोमी या पुलोमजा' भी था। इन्द्र ने पुलोमा का वध करके, शची को अपनी पत्नी बनाया था। हरिवंश पुराण २०। १३४ के अनुसार—

कृत्वा सवधम चापि विश्वसेन्द्रशत्रुणा नहि।
पुलोमान जघानाजौ जामाता सन् शतक्रतु ॥

१० मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिवधावतु पथा वारिव धावतु ॥५॥

११ पौलोमी स्त्री शची इति हेमचन्द्र।
यथा भागवते—( ५-७-६ ) "विराजमान पौलोम्या सहार्द्धासनया भृशम्'।

१२ पुलोमा दनु एव कश्यप महर्षि से उत्पन्न ४३ दानवों मे से एक था। कश्यप ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचिके पुत्र थे और 'दनु' दक्षप्रजापति की तेरह कन्याओं में से एक थी। महाभारत आदिपर्व अध्याय ६५ के श्लोक २१, २२ के अनुसार—
चतुस्त्रिंशद्दनो पुत्रा' ख्याता सर्वत्र भारत ॥२१॥
तेषा प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशा शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुत ॥२२॥

अस्तु। इस सूक्त में कुल ६ अनुष्टुप् हैं जिसमें कवयित्री हमें इस बात की सूचना देती है कि 'उसने अपनी सपत्नियों पर विजयप्राप्त कर ली है। सूर्योदय के साथ ही साथ उसका भाग्योदय भी हो रहा है। उसके पतिदेव पूर्णतः उसके वशंवद होचुके हैं, और अब वह अन्य स्त्रियों ( जो उसके पतिको आकृष्ट करना चाहती हैं ) के दर्प को चूर कर डालने में समर्थ है, इत्यादि।'

## ४. इंद्र की माताएं ( देवजामयः )

आर्षानुक्रमणी, मण्डल १० श्लोक ७९ के प्रमाणानुसार प्रस्तुत सूक्त की कवयित्री बहुल संख्या वाली इन्द्र माताएं हैं।—

इन्द्रस्य मातरो यास्ता ऋषयो देवजामयः।
इङ्खयन्तीरिति त्वस्य सोमो ( वैवस्वती यमी )॥

वृहद्देवता में इस विषय में कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं है, शायद सूक्त या ऋषि की लघुता के ही कारण। किन्तु इतना होने से ही सूक्त की महत्ता कम नहीं हो जाती क्योंकि हृदुद्गार अत्यन्त सरस तथा स्वाभाविक हैं।

दशम मण्डल का यह १५३ वाँ सूक्त जिसमें कुल पाँच गायत्री छन्द हैं वात्सल्य भाव का एक मनोरम दृश्य उपस्थित करता है। इन्द्र की माताएँ अपने योग्य पुत्र की प्रशस्ति गाती हुई उसकी मंगलकामना करती हैं। इस कविता में इन्द्र के उन्हीं अलौकिक तथा आश्चर्यकारी कार्यों तथा गुणों का गान किया गया है जो स्वतन्त्ररूप से इन्द्रसूक्त में आए हैं अर्थात् उनकी जन्मजात प्रतिभा, अपारशक्ति, वृत्रहन्तृता, आत्मशक्ति, स्वावलम्बिता आदि।१३ पौराणिक आख्यानों के अनुसार तो इन्द्र महर्षि कश्यप तथा अदिति से संभूत बताए जाते हैं किन्तु कश्यप के बहुपत्नीत्व के कारण देवजामयः की अभिव्यक्ति ठीक ही कही जा सकती है।

## ५. सार्पराज्ञी

दशम मण्डल का१८९ वाँ सूक्त जो केवल तीन गायत्री छन्दों में निहित है सार्पराज्ञी अर्थात् 'साँपों की रानी' द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इन तीन छन्दों में केवल सूर्य की

---

१३. त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षिबाह्वोः वज्रं शिशान ओजसा ॥४
त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा, स विश्वा भुव आभवः ॥५

प्रशस्ति ही गाई गई है। पूर्वदिशा को सूर्य की माता और आकाश को पिता बताया गया है। सूर्य प्रकाशमान है, यह प्रकाश उनके प्राण के मध्य से प्रकट हुआ ( मन्त्र १ एवं २ ), वह गतिमान् है तथा अपनी रश्मियों से अलङ्कृत होकर नित्यप्रति प्रकाशित होता है ( मन्त्र ३ ) 'अयङ्गौरिति सूक्तस्य सार्पराज्ञी मुनि स्मृत' ( १०-९८ ) आर्षानुक्रमणी के इस भाष्यानुसार सार्पराज्ञी की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है। बृहद्देवता में भी आचार्य शौनक का मन्तव्य इस प्रकार है—'अयङ्गौरिति यत्सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ। तस्मात् सा देवता'—( ८ ८७ ) इस प्रकार सार्पराज्ञी के अस्तित्व में कोई और किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। पचविंश ब्रा० ( ४-९-४ ) तथा कौशी० ब्रा० ( २७-४ ) में भी सार्पराज्ञी के उद्धरण, प्राप्त होते हैं ( वदिक इण्डेक्स )।

यद्यपि वहिरंग दृष्टि से, यह विचार अटपट-सा अवश्य लगता है कि—'साँपों की रानी' सूक्त नहीं देख या लिख सकती। और इसी बात को ध्यान में रख कर कुछ सुधीजनों ने विरोधी विचार भी व्यक्त किए हैं। मैं समझता हूँ यदि श्रीयुत राय साहब को यह विश्वास कराया जाता कि 'जन्मेजय के सर्पसत्र में साँपों की रक्षा के लिये, उनके राजा वासुकि ने अपनी वहिन जरत्कारु का विवाह महर्षि जरत्कारु से किया था' ( सविस्तर द्रष्टव्य, महा० आदिपर्व, अध्याय १३, १४ ) तो वे विश्वास करनेके बजाय इसे अनर्गल बात मान बैठते। जो व्यक्ति 'साँपों की रानी' में ही अनास्तिक्य भाव रखता है वह भला क्यों स्वीकार करेगा कि 'साँपिन की शादी एक ऋषि के साथ हुई थी'। किन्तु यदि हम भारतीय वाङ्मय को श्रद्धापूर्वक पढ़े, यदि प्राचीन धर्म या समाज-धारा को आस्तिक्यभाव से निहारे तो, हमें कतई शङ्का न होगी। क्योंकि समस्त जीवों की सृष्टि एक ही व्यक्ति ( कश्यप ) से हुई है। 'साँप की खोल' से हमें आश्चर्य न करना चाहिए। राक्षस का अर्थ यही नहीं कि जिसके सींग हों, दाँत निकले हों वरिक कर्म पर आधारित मनुष्यों की ही एक जाति विशेष है।

### ६ नदी ( विपाश एवं शुतुद्रि )[१४]

'महर्षि विश्वामित्र किसी समय रथ लेकर उसी मार्ग से आ रहे थे जिस मार्ग में ये दोनों नदियाँ बहती थी। विश्वामित्र ने अपनी कविता द्वारा, नदियों की प्रशस्ति गाई, जिससे

---

१४ वर्तमान, व्यास तथा सतलज नदियाँ।

प्रसन्न होकर नदियों ने अपना प्रवाह तथा तल मन्द एवं निम्न कर लिया, और इस प्रकार महर्षि का रथ पार हो गया, इसी रूपक का वर्णन कवि ने प्रस्तुत 'संवाद सूक्त' में किया है। इसमें कुल १३ मन्त्र हैं जिनमें से मन्त्र ६, ७, ८ एवं १० नदियों द्वारा उत्तर रूप में कहे गए हैं। वे विश्वामित्र की प्रार्थना से खुश होकर उसीप्रकार नत हो जाती हैं जैसे पुत्र को स्तन पान कराने के लिए माँ तथा पति से मिलने के लिए (आलिङ्गनार्थ) पत्नी विनत होती हैं। देखिए—आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥१०॥

'इन्द्र-इन्द्राणी' की भाँति ही प्रस्तुत संवादसूक्त ( ३ मण्डल ३३ सूक्त ) भी 'नाट्याभ्युदय' की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कवयित्री विषयक प्रमाण आर्षानुक्रमणी ( ३-६, ७ ) में आचार्य शौनक ने दी है।

## ७. सरमा ( देवशुनी )

पौराणिक साक्ष्यों के अनुसार 'सरमा' महर्षि कश्यप की ही अन्यतम पत्नी थी। इसके गर्भ से सारमेय ( कुत्ते ) भ्रमरादि उत्पन्न हुए। महाभारत आदिपर्व के तृतीय अध्याय की कथा के अनुसार, जनमेजय के अनुजों द्वारा पुत्र ( सारमेय ) के अनायास ताडित किये जाने पर देवशुनी सरमा यज्ञमण्डप में आई और उसने जनमेजय को शाप दिया।

प्रस्तुत सूक्त में जो दशम मण्डल का १०८ वाँ है तथा ११ त्रिष्टुप् छन्दों से युक्त है, सरमा इन्द्र की दूती बनकर पणि नामक राक्षसों के पास जाती है। पणियों ने कपटाचरण से देवताओं का गोधन चुरा लिया था। इन ग्यारह ऋचाओं में एकैकशः २-४-६-८-१० एवं ११ वें पद्य सरमा द्वारा प्रोक्त हैं। सरमा इन्द्र के अलौकिक बल, साहस एवं माहात्य का वर्णन करती हुई पणियों को सावधान करती है कि वे अपने मन का पाप हटा दें अन्यथा वीर इन्द्र के हाथों वे मारे जाएँगे। भयभीत होकर पणिगण सरमा को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयत्न करते हैं, और सरमा को बहिन भी मानते हैं, किन्तु बुद्धिमती सरमा उन्हें फटकार देती है—

नाहं वेद भ्रातृत्वं न स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्चघोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥१०॥

अर्थात् न मैं भाईचारा जानती हूँ, और न बहिन का संबंध ही। इन्द्र और अङ्गिरस् ने

सुरक्षित रूप से मुझे गोधन प्राप्ति के लिए भेजा है। पणियो ! यहाँ से तुम्हारा भागना ही श्रेयस्कर है ॥ नाट्योद्भव की दृष्टि से प्रस्तुत सवाद सूक्त भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

सरमा विषयक आपत्तियो का निराकरण भी सार्पराज्ञी की ही भाँति समझना चाहिए। आर्षानुक्रमणीकार ने सरमा का अस्तित्व सर्वथा स्वीकार किया है

किमिच्छन्तीति सूक्तस्य युजामासामृचामृषि ॥५०॥
अन्यायाश्च शुनी नाम सरमा पणयोऽयुजाम् ॥

बृहद्देवता के आठवे अध्याय मे, १२ श्लोकों मे ( २४-३५ ) सरमा सबधी रोचक कथा दी गई है, जो इस सूक्त की पृष्ठभूमि मानी जा सकती है। सूक्त मे, केवल 'पणियो द्वारा सरमा का ललचाया जाना' ही दिखाया गया है, किन्तु बृहद्देवता में दिखाया गया है, कि सरमा ने लालच मे पड़कर पणियो द्वारा प्रदत्त पय पी लिया, जिससे कि उसकी बुद्धि आसुरी हो गई। इन्द्र के पूछने पर जब उसने देखे गए पणियों को भी, उसी पयपान के प्रभाव से अनदेखा बताया तब इन्द्र ने उसे पीटा। सरमा दूध उगलती हुई पुन पणियों के पास गई। इन्द्र भी उसी दूध की लकीर के सहारे पणियो के लोक मे गया और उनका वध किया।

इस प्रकार देवी रूप मे प्रोक्त कवयित्रियाँ सर्वथा प्रामाणिक एव सत्य हैं। यमी, वैदिक ( पौराणिक साक्ष्यानुसार भी ) भगवान् सूर्य की पुत्री है, सूर्या सावित्री भी सूर्य की कन्या है। इन्द्राणी या शची पौलोमी देवराज इन्द्र की पत्नी है। देवमाताए अदिति आदि प्रजापति कश्यप की पत्नी है, जिनसे आदित्यों का अवतार हुआ। सार्पराज्ञी साँपो की अधिदेवता, सरमा महर्षि कश्यप की पत्नी तथा सारमेय प्रभृति जीवों की जन्मदात्री तथा नदियाँ, स्वय अधिदेवता है।

ये तो हुई, दैवत कवयित्रियाँ, जिन्हें मत्रद्रष्ट्री बताया गया है, पर जो इस पृथ्वीलोक की नहीं है। अत उनकी ऐतिहासिकता, निवास, आचार, व्यवहार सब केवल 'शब्दज्ञान' पर ही निर्भर है। यदि हम नास्तिक हों, तो इनकी सत्यता, सत्य होने पर भी, नहीं ही स्वीकार कर सकते। अस्तु—

अब हम, भारत की तप पूत वसुन्धरा पर ही रहनेवाली, प्राचीन आरण्यक ऋषिबालाओं की चर्चा करेंगे जो कवयित्री रही है और जिनकी कविताओं का सकलन ऋग्वेद में हुआ है, जो पाश्चात्य विद्वन्मतानुसार सर्वथा काल्पनिक एव भावात्मक ही नहीं है प्रत्युत् किसी-न-किसी ऋषि की पत्नी या पुत्री ( अथवा अन्य सबधी ) हैं।

## १. लोपामुद्रा

महाभारत, वनपर्व के ९६ वें अध्याय में भी लोपामुद्रा की कथा प्राप्त होती है। पितरों को अधोमुख लटकते हुए देख कर महर्षि अगस्त्य ने कारण पूछा। पितरों ने कहा,—'जब तक तुम स्वयं अपने वीर्य से संतान नहीं उत्पन्न करते तब तक हमारी मुक्ति न होगी।' अतः महर्षि अगस्त्य ने अपने प्रसवयोग्य एक कन्या की मानसी सृष्टि करके, पालन पोषण के लिए उसे विदर्भ नरेश को दे दिया। यही कन्या जब सयानी हो गई, तब महर्षि ने विवाहार्थ राजा से माँगा। यद्यपि नरेश चाहते नहीं थे, तथापि विवश हो कर उन्होंने लोपामुद्रा का विवाह महर्षि अगस्त्य के साथ कर दिया—

दुहितुर्वचनाद्राजा सोऽगस्त्याय महात्मने।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद् विधिपूर्वं विशाम्पते॥

—महा० ९७।७

लोपामुद्रा-विषयक-प्रमाण, शब्दकल्पद्रुम के उद्धरणानुसार ब्रह्मवैवर्त तथा नृसिंह पुराण में भी उपलब्ध है।[१५] महाभारत में लोपामुद्रा का वृत्तांत ४ अध्यायों में (९६-९९) वर्णित किया गया है। अतः लोपामुद्रा की ऐतिहासिकता सर्वथा प्रामाणिक लगती है। आज भी पतिव्रता नारियों की संख्या में लोपामुद्रा का परिगणन अवश्य होता है। महर्षि अगस्त्य रामायणकालीन ऋषि माने जाते हैं। 'वाल्मीकीय-रामायण' में अरण्यकाण्ड के बारहवें तथा १३वें अध्याय में अगस्त्याश्रमवर्णन तथा भगवान् की महर्षि से भेंट, इन दोनों ही घटनाओं का विस्तृत वर्णन एवं साक्ष्य प्राप्त हैं।

प्रस्तुत कवयित्री उन्हीं अगस्त्य की धर्मपत्नी है। प्रथम मण्डल का १७९वाँ सूक्त (जो ६ त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्दों में निहित है) दाम्पत्य सुख के विषय में, एक यथार्थ उद्गार है, इसके प्रथम दो मंत्र कवयित्री द्वारा, परवर्ती दो अगस्त्य द्वारा तथा चरम दो शिष्य विशेष द्वारा

---

१५. किन्तु पाश्चात्य-वेदज्ञ मैकडानेल ने प्रस्तुत लोपामुद्राविषयक तथ्य को कुछ सन्दिग्ध दृष्टि से देखा है; वैदिक इंण्डेक्स, खण्ड २, पृ० २३४

प्रकट किए गए हैं।१६ लोपामुद्रा इस कविता में वृद्धावस्था को सौन्दर्यनाशक बताती है, और यौवन में ही पति-पत्नी को, गृहस्थधर्म का पालन करके, उद्देश्यपूर्ति के लिए प्रेरणा देती है। संयमशीलता तथा विद्याध्ययन में रति, ये दोनों ही तत्त्व नवदम्पति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं—

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषावस्तोरुषसो जरयन्ती ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥१
ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि ।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः ॥२

'पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा' से लोपामुद्रा की पतिपरायणता साकार हो उठती है। वह रात दिन पति की सेवा में ही तल्लीन है, पर इस सेवा के पीछे छिपा है उसका नारीहृदय, उसका अम्लान-यौवन जो अनायास इन उद्गारों में प्रकट हो जाता है। नारीहृदय के अन्तर्द्वन्द्व का ऐसा ही सजीव उदाहरण 'भामती' में प्राप्त होता है, जो महानैय्यायिक वेदान्ती तथा योगी श्रीवाचस्पति मिश्र की साध्वी पत्नी थी। बादरायण सूत्रों का 'भामती प्रस्थान' उसी मधुरकथा का परिचयप्रकाशस्तम है।

## ७ विश्ववारा ( आत्रेयी )

पञ्चम मण्डल का २८वाँ सूक्त, कवयित्री विश्ववारा आत्रेयी का है। इस सूक्त में कुल ६ त्रिष्टुप् छन्द हैं, जिनमें अग्निदेव के प्रति श्रद्धोद्गार व्यक्त किए गए हैं। श्रीयुत रामनारायण राय, अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति के ही अनुसार आत्रेयी विश्ववारा को भी 'व्यक्तिवाचक नाम' नहीं मानते।१७ संस्कृत व्युत्पत्ति के अनुसार 'विश्ववारा' का अर्थ 'विश्वान् ( अरीन् ) वारयतीति'

---

१६ आर्षानुक्रमणी ( प्रथम मण्डल ) श्लोक २९ एवं ३० में इस सूक्त की प्रामाणिकता इस प्रकार पुष्ट की गई है—पूर्वीरिति च सूक्तस्य स्वादस्य द्वृचास्त्रय ॥२९॥

लोपामुद्रा द्वृचेपूर्वे अगस्त्यो द्वृचेमध्यमे ।
अन्तेवासी ब्रह्मचारी सूक्तस्यान्ते द्वृचे मुनि ॥३०॥

इसी प्रकार बृहद्देवता के चतुर्थ अध्याय मे भी ६ श्लोकों में ( ५३-५८ ) लोपामुद्रा एवं महर्षि अगस्त्य की कथा आचार्य शौनक ने वर्णित की है

१७ द्रष्टव्य—'ऋग्वेद के देवता' ( Rishis of the Rigveda ) 'विश्ववारात्रेयी' पृ० २१३।

स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'विस्ववारा' शब्द बनेगा। यहां पर 'विस्व' का अर्थ 'शत्रु' मान लेना श्री राय साहब की अपनी सूझ जान पड़ती है। किन्तु नाम का अर्थ जान कर ही इसे अनैतिहासिक अथवा उपाधिमात्र सिद्ध करना कहां तक न्यायसंगत है, यह सोचने का विषय है। अभिधान विशेषकर अभिज्ञानार्थ ही होता है, अन्यथा दरिद्र व्यक्ति अपने बच्चे का नाम 'पृथ्वीपाल' या डाकू अपने बेटे का नाम 'धर्मराज' क्यों रखता? इन्हीं बातों को ध्यानमें रख कर एक पाश्चात्य-दार्शनिक ने कहा कि 'नाम प्रायः आकस्मिक हुआ करते हैं'।

महर्षि कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कवयित्री विश्ववारा, महर्षि अत्रि की पुत्री थी, और उसने 'अग्नेशर्द्ध' (ऋ० ५-२८) इत्यादि ऋक्-विशेष का दर्शन किया था। 'अग्नेशर्द्ध' इत्यादि ऋक् ऋग्वेद पञ्चम मण्डल के २८ वें सूक्त की तीसरी ऋक् है। महर्षि कात्यायन का सूत्र इस प्रकार है "अग्ने शर्द्धात्रिदुहिता विस्ववारा' भाष्यकार ने इसी रहस्य को और स्पष्ट कर दिया है—"अग्ने शर्द्धेतीमामृचमत्रिदुहिता अत्रेः पुत्री विस्ववारा इति नाम्नी अपश्यत्।"[१८]

आचार्य शौनक कृत 'आर्षानुक्रमणी' के, मण्डल ५, श्लोक १५ में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन है—'समिद्धो अग्निरित्यस्मिन् विस्ववारात्रिगोत्रजा'। इस प्रकार इन प्रामाणिक उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'विस्ववारा' कोई उपाधि मात्र नहीं, वरन् 'कवयित्री' विशेष है। वह महर्षि अत्रि की पुत्री है। प्रामाणिक पौराणिक साक्ष्यों के अनुसार महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूया कर्दम प्रजापति की कन्या थीं।[१९] यह वही पुराणप्रसिद्ध कर्दम ऋषि हैं, जिनके पुत्र, सांख्य दर्शन के प्रथमोपदेष्टा, आचार्य कपिल थे। अनसूया तथा अत्रि के संयोग से ही दत्तात्रेय, दुर्वासा एवं चन्द्रमा जैसे पुत्रों तथा विस्ववारा एवं अपाला जैसी कन्याओं का जन्म हुआ था। महाभारत आदिपर्व के ६६ वें अध्याय के छठें श्लोक में भी उल्लेख है—

'अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप!
सर्वेवेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः॥

पाश्चात्य विद्वान् मैक्डानेल एवं कीथ ने 'कवयित्री' को 'यज्ञ के नाम' स्वीकार किया है। (वै० इं० पृ० ३१०, II)

---

१८. शुक्लयजुर्वेदसर्वानुक्रमसूत्रभाष्ये द्वितीयोध्यायः। भाष्यकृत् याज्ञिकानन्तदेव। बनारस संस्कृत सीरीज, सं० ४९, १८९४ संस्करण (पृ०—२७२)।

१९. श्रीमद्भागवत ४-१-१२ तथा १५, मैत्रेयविदुर संवाद।

प्रस्तुत सूक्त में कवयित्री ने अग्निदेव की वन्दना की है। समस्त ऋचाओं में अग्नि की उन्हीं प्रशस्तियों का गान है, जो वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध रही हैं अर्थात् उनका दिव्यतेज, देवताओं को हविदान, विश्वोपकारत्व, यजमान के प्रति वात्सल्य, शत्रुहन्तृता आदि। किन्तु इन गुणों के बीच, तृतीय ऋचा में कवयित्री ने जो उद्गार प्रकट किया है, उससे हम यह जान सकते हैं कि कवयित्री शायद परिणीता रही होगी। तीसरी ऋक् है—

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नानि उत्तमानि सन्तु।
स जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥

अर्थात् हे अग्नि, हमारे धन एवं ऐश्वर्य के संरक्षणार्थ तुम हमारे शत्रुओं को पराजित करो। तुम्हारा तेज अत्यन्त उत्कृष्ट है। हे अग्ने! तुम स्त्रीपुरुषों के दाम्पत्य संबंध को सुदृढ़ करने के लिए श्रेष्ठ संस्कार करो। तुम शत्रुओं के तेजको पराभूत करो।

यहाँ, बिना किसी पूर्ववर्णनानुक्रम के, और उस पर भी स्त्री के मुख से 'दाम्पत्य संबंध' के प्रति प्रकटित यह उद्गार अवश्य ही विश्ववारा के सौभाग्य की सूचना देता है।

## ३ अपाला (आत्रेयी)

अपाला के विषय में, हम विश्ववारा की अपेक्षा कुछ अधिक जान सकते हैं क्योंकि अपाला विषयक प्रमाण, वृत्तान्त एवं दन्तकथाएं विस्तृत एवं आधिकारिक रूप से बृहद्देवता, आर्षानुक्रमणी तथा जैमिनीय ब्राह्मण में उपलब्ध होती हैं।

ऋग्वेद, अष्टम मण्डल का ९१ वाँ सूक्त, आत्रेयी अपाला द्वारा प्राप्त किया गया है। इस सूक्त में पङ्क्ति और अनुष्टुप् छन्दों में कुल सात ऋचाएं हैं। इन ऋचाओं में कवयित्री अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ वेदनाएं, कुछ मर्मस्पर्शी संस्मरण एवं समस्याएं व्यक्त करती है। ऋचा का भाव व्यक्त करने के पूर्व अन्य ग्रंथों से प्राप्त प्रमाणों एवं तद्विषयक वृत्तान्तों का आकलन कर लेना समीचीन होगा।

'आर्षानुक्रमणी' के अष्टममण्डलीय ३९ वे श्लोक की अर्द्धाली में दिये गए शौनकाचार्य के प्रमाणानुसार 'अपाला' अत्रि मुनि की कन्या थी।[२०] और उसने 'कन्या' प्रभृति शब्द से प्रारंभ होने वाली ऋक्‌विशेष का दर्शन किया था। यह ऋक् ९१ वे सूक्त की प्रथम ऋक् है 'कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्' इत्यादि।

२० 'अपाला नाम कन्येति सूक्तस्यात्रेः सुता मुनिः' (आर्षा० ८।३९, पृ० २५९)।

'बृहद्देवता' के छठे अध्याय में, श्लोक १०० से लेकर १०८ तक, शौनकाचार्य ने अपाला विषयक प्रमाण प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार अपाला, अत्रि मुनि की कन्या तथा पहले से ही चर्मरोगिणी थी (और इसीकारण पतिद्वारा त्यागी भी जा चुकी थी) इन्द्र ने उसे अपने पिता के आश्रम में अकेली देखकर व्यभिचरण का विचार किया। किन्तु सता अपाला ने इन्द्र की दुष्प्रवृत्ति को तपोबल से जान लिया। उसने पवित्र मन से इन्द्र की स्तुति की और उन्हें सोमपान कराया। इन्द्र प्रसन्न हुए और उन्होंने अपाला को 'सुलोमा एवं अनवद्याङ्गी' बना दिया।

ऋग्भिस्तुष्टाव सा चैनं जगादैनं तृचेन तु। सुलोमामनवद्याङ्गीं कुरु मां शक्र सुत्वचाम्॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतस्तेन पुरन्दरः॥१०५॥
रथच्छिद्रेण तामिन्द्रः शकटस्य युगस्य च प्रक्षिप्य निश्चकर्ष त्रिः
सुत्वक् सा तु ततोऽभवत्॥१०६॥

१०८ वें श्लोक में शौनकाचार्य, आचार्य यास्क और माठर का नाम देकर कहते हैं कि इन दोनों आचार्यों ने अपालाविषयक इस वृत्तान्त को 'इतिहास' (इति+ह+आस् अर्थात् एवमेवासीत्) अर्थात् सत्यघटना स्वीकार किया है।[२१]

जैमिनीय ब्राह्मणके प्रथमकाण्ड में ब्राह्मण संख्या २२० तथा २२१ में अपालाविषयक यही कथा, इसी रूप में गद्य में वर्णित की गई है।[२२] वर्णन एवं प्रतिपाद्य की दृष्टि से सूक्त-बृहद्देवता एवं जैमिनीय ब्राह्मण, तीनों में साम्य ही है। जै० ब्रा० में, यह वृत्तान्त इन्द्र तथा अपाला के कथोपकथन रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि महर्षि अत्रि-विषयक प्रमाण श्रीमद्भागवत तथा महाभारत में भी उपलब्ध होते हैं, तथापि इन स्थलों पर अत्रि मुनि की कन्याओं का उल्लेख हम नही पाते, विश्ववारा के प्रसंग में यह बात उद्धरण द्वारा स्पष्ट की जा चुकी है।

जो भी हो, ऋग्वेद एवं उसके अनुमोदक ग्रन्थों से इतना तो स्पष्ट ही है कि अपाला चर्मरोगिणी थी, और तपस्या के बल पर, इन्द्र द्वारा वरदान पाकर उसका यह रोग विनष्ट

---

२१. इतिहासमिमं सूक्तं त्वाहतुर्यास्कमाठरौ कन्येति शौनकः सूक्ते पान्तमैन्द्रे ततः परे॥ बृहद्देवता ६-१०८ (सविस्तर द्रष्टव्य—बृहद्देवता ६-१००-१०८ पृ० १७६-७७) श्री रामनारायण राय ने प्रस्तुत उद्धरण का संकेत '५-९९ बृहद्देवता' करके दिया है, जब कि वह है ६-१००। या तो उद्धरण गलत है, या पुस्तक का संस्करण, या फिर टङ्कनदोष।

२२. सरस्वती बिहार सीरीज़, जिल्द ३१, नागपुर १९५४, पृ० ९०-९१।

हो गया। यह भी स्पष्ट है कि वह रोगिणी होने के ही कारण अपने पति महर्षि कृशाश्व की प्रेमपात्री न बन सकी। प्रस्तुत सूक्त के चतुर्थ ऋक् में वह कहती है—

कुविच्छकत्कुवित्करत्कुविन्नो वस्यसस्करत्।
कुवित्पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै॥

यहाँ 'पतिद्विष' पद से उपर्युक्त व्यञ्जना सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। पाँचवी ऋचा में वह इन्द्र से वर माँगती है कि 'उसके पिता का मरुस्थल रूप खेत, उनका केशविहीन मस्तक और अपाला का शरीर' इन तीनों को वे उर्वर बनाये।'—

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥

अन्तिम ऋक् से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्र ने उसपर कृपा की—

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥

प्रस्तुत सूक्त का द्वितीय मन्त्र— असौ य एषि वीरको गृहं गृहं विचाकशत्।
इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्॥

जिसमें, कवयित्री इन्द्र को प्रेरित करती है कि 'वे उसके द्वारा दिए गए अभिषुत सोम एवं पुरोडाश का सेवन करें' भाषाशास्त्र की दृष्टि से कम महत्त्व का है। महत्त्व का इसलिए है कि पाश्चात्य विद्वानों को इस ऋक् में प्राप्त कुछ शब्दों से इसके कालनिर्धारण में यथेष्ट सहायता मिली है। श्री राय साहब का उद्धरण यहाँ प्रसगानुकूल होगा—"ऋक् पीछे की रचना है क्योंकि धानावन्तम्, करम्भिणम् तथा अपूपवन्तम् शब्दों से यज्ञ के विकसित रूप का आभास मिलता है" (उनका प्रबंध पृ० ३५७)।

जहाँ तक इन शब्दों की सार्थकता का प्रश्न है निश्चय ही वे वैदिक यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले 'हव्य विशेष' का सङ्केत करते हैं। किन्तु उनकी सहायता से सूक्त को (और साथ ही साथ उसकी द्रष्ट्री कवयित्री अपाला को) बहुत परवर्ती सिद्ध करना, यह तो राय साहब की अपनी धारणा या कल्पना है। वस्तुतः यह मत है उसी प्रकार का जैसा 'जवनिका' शब्द को 'यवनिका' समझ कर तथा 'यवन' (यूनानी) शब्द की प्रभुता 'यवनिका' शब्द पर मानकर किसी अंग्रेज विद्वान् द्वारा भारतीय-नाटकों का यूनानी-उद्भव मानना। भाषाशास्त्रीय उक्तियाँ तभी 'काल-निर्धारण' में सहायक बनती हैं जब उनका समुचित आकलन के बाद प्रयोग किया जाय।

## ४. घोषा ( काक्षीवती )

कवयित्री की दो सारगर्भित कविताएँ ऋग्वेद, दशममण्डल में प्राप्त होती हैं। ये दोनों कविताएँ क्रमशः सूक्त ३९ एवं ४० हैं। ३९ वें सूक्त में कुल १४ ऋक् हैं, जगती एवं त्रिष्टुप् छन्द में। इसमें कवयित्री ने पुनः अश्विनीकुमारों की वन्दना की है जो देवताओं के वैद्य माने जाते हैं। ४० वाँ सूक्त जिसमें कवयित्री ने पुनः इन्हीं अश्विनों की वन्दना की है चौदह जगती छन्दों में पूर्ण हुआ है।

आर्षानुक्रमणी दशम मण्डल के श्लोक १५ के प्रमाणानुसार २३ कक्षीवान् की पुत्री घोषा उपर्युक्त दोनों सूक्तों की कवयित्री है। इसी प्रकार आचार्य शौनक कृत बृहद्देवता में भी घोपा का वृत्तान्त सातवें अध्याय के श्लोक ४३ से ४९ तक अर्थात् सात श्लोकों में वर्णित किया गया है। उद्धरण इस प्रकार है—

आसीत् काक्षीवती घोषा पापरोगेण दुर्भगा उवास षष्ठिवर्षाणि पितुरेव गृहे पुरा ॥
आतस्थे महती चिन्ता न पुत्रो न पतिर्मम जरां प्राप्ता मुधा तस्मात्प्रपद्येऽहं शुभस्पती ॥

इत्यादि। इस कथानक से घोषा विषयक इतने रहस्यों का उद्घाटन होता है—( १ ) घोषा काक्षीवान् की कन्या थी ; ( २ ) वह पाप रोग से ग्रस्त थी अतः साठ वर्ष तक पिता के घर ही पड़ी रही ; ( ३ ) उसने अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करके रूप, पति एवं पुत्र, तीनों प्राप्त किये।

'बृहद्देवता' में प्राप्त घोषावृत्तान्त में ४५ श्लोक रहस्यमय है। वह इस प्रकार है—

यथैतौ मामकस्तात आराध्यवाप यौवनं आयुरारोग्यमैश्वर्यं सर्वभूतहने विषम् ॥४५॥
रूपवत्तां च सौभाग्यमहं तस्य सुता यदि ममापिमन्त्राः प्रादुःस्युर्यैः
स्तोष्येते मयाश्विनौ ॥४६॥
चिन्तयन्तीति सूक्तानि त्रीणि घोषा ददर्श सा स्तुतौ तावश्विनौ
देवौ प्रीतौ तस्या भगान्तरम् ॥४७॥
प्रविश्य विजरारोगं सुभगाञ्चक्रतुश्च तौ भर्तारं ददतुस्तय सुहस्त्यञ्च सुतं मुनिम् ॥४८॥

यहाँ घोषा अपने पिता का आदर्श उपस्थित करती है, जिन्होंने अश्विनों की वन्दना करके

---

२३. यो वां परिज्या सूक्तस्य रथमित्युत्तरस्य च कक्षीवतः सुता घोषा ऋषिकेत्यत्र कीर्तिता ॥

यौवन, आयु, आरोग्य एवं ऐश्वर्य प्राप्त किया था। पिता का नाम घोषा की उपाधि के ही अनुसार 'काक्षीवान्' था। आर्षा० से भी यह तथ्य सिद्ध हो चुका है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि कक्षीवान् थे कौन ? उन्होंने कैसे अश्विनों की उपासना की, और क्यों की ? इस विषय पर हम आगे प्रामाणिक वृत्त प्रस्तुत करेंगे।

४० सूक्त की ५ वीं ऋक् के अनुसार घोषा राजकुमारी थी। कवयित्री के ही शब्दों में—

युवं ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा।

भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते॥

किन्तु एतावन्मात्र से घोषा के व्यक्तिगत जीवन पर प्रभूत प्रकाश नहीं पड़ता। कक्षीवान् के विषय में विशेष ज्ञान के बिना हम घोषा के भी विषय में अधिक नहीं कह सकते। हाँ 'राज्ञ दुहिता' से उसका राजकुमारी होना सर्वथा सत्य है।

४० वें सूक्त की ९ वीं ऋक् से हमें यह भी सूचना मिलती है कि अश्विनों ने घोषा को सौन्दर्य प्रदान किया, उसका विवाह भी हुआ और अन्ततः पुत्र प्राप्ति भी हुई। ऊपर दिए गए 'बृहद्देवता' के प्रमाणानुसार घोषा के पुत्र का नाम 'सुहस्त्य' था। दशम मण्डल का ४१ वाँ सूक्त, जिसमें अश्विनीकुमारों की ही वन्दना है, इन्हीं 'सुहस्त्य' द्वारा विरचित लगता है। साथ ही साथ सुहस्त्य को सूक्त में 'घौषेय' कहा गया है जो अवश्य ही उन्हें घोषा का पुत्र सिद्ध करता है। आर्षा० में दशम मण्डल का १६ वाँ श्लोक भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है कि 'सामानम्' प्रभृति सूक्त के द्रष्टा घौषेय सुहस्त्य हैं—"समानमु त्य घौषेय सुहस्त्यो नाम वा ऋषि"।

'कक्षीवान् राजा थे या मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे' इस प्रश्न के सम्बन्ध में दोनों ही प्रमाण प्राप्त होते हैं। कवयित्री के वचनानुसार तो कक्षीवान् को एक नरेश होना चाहिए। किन्तु ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अध्ययन प्रसंग में हम यह भी पाते हैं कि 'कक्षीवान्' कई सूक्तों के मन्त्रद्रष्टा भी हैं। वे सूक्त हैं—प्रथम मण्डल के ११६ से लेकर १२६ तक के सूक्त अर्थात संख्या में कुल ग्यारह। आर्षानुक्रमणी का प्रमाण इस तथ्य को और भी सुदृढ़ बना देता है। इन सूक्तों में से प्रथम ५ में अश्विनों की, परवर्ती दो में विश्वेदेव तथा इन्द्र की, पुनः परवर्ती दो में उषा की, तथा चरम दो में क्रमशः दम्पती एवं विद्वान्‌के प्रति उद्‌गार व्यक्त किये गए हैं। इन ग्यारहों सूक्तों में कक्षीवान् की दो उपाधियों का उल्लेख है। दैर्घतमस् (औचथ्य) तथा औशिज। इन ग्यारहों सूक्तों में, अन्तिम सूक्त, जो विद्वानों के प्रति व्यक्त किया गया है, अत्यन्त रोचक शैली में कवि के व्यक्तिगत जीवन को इङ्गित करता है। यही सङ्केत, बृहद्देवता, के तृतीय अध्याय (श्लोक १४० से १५० तक)

तथा चतुर्थ अध्याय (श्लोक ११ से १६ तक) में क्रमशः कक्षीवान् के व्यक्तिगत जीवन तथा उनकी उपाधियों का विस्तृत व्याख्यान बनकर दृष्टिगोचर होता है। विस्तारभय से हम केवल संकेत रूप में उनका सारांश दे सकते हैं—"महर्षि अंगिरा के दो पुत्र थे, उचथ्य और वृहस्पति। भृगु महर्षि की कन्या ममता उचथ्य की पत्नी थी। एक बार भाई की अनुपस्थिति में वृहस्पति ने गर्भिणी भाभी के साथ संभोग की इच्छा व्यक्त की, परन्तु उचथ्य द्वारा स्थापित तेजस्वी गर्भस्थ शिशु ने उन्हें भर्त्सनापूर्वक इस अनाचार से विरत कर दिया। अन्ततः क्रुद्ध वृहस्पति ने शिशु को 'दीर्घतमस्' अर्थात् अन्धा हो जाने का शाप दिया। वही शिशु उचथ्य का पुत्र अतः 'औचथ्य दीर्घतमा' महर्षि बनकर प्रख्यात हुआ। कक्षीवान् इन्हीं के इकलौते पुत्र तथा जात्या ब्राह्मण थे।२४ जब वे विद्याग्रहणोपरान्त अपने घर लौट रहे थे, उसी समय मार्ग में सोये हुए उनके नैसर्गिक सौन्दर्य को देखकर महाराज भावयव्य के पुत्र स्वनय ने अपनी पुत्री 'रोमशा' के लिए उन्हें वर चुन लिया। इस प्रकार कक्षीवान् का विवाह राजपुत्री के साथ संपन्न हुआ, दहेज में राजा ने उन्हें असंख्य घोड़े, रथ, गाय, स्वर्ण एवं दास दासी दिये।२५ इस अन्तर्कथा से कक्षीवान् का नृपतित्व और महर्षित्व दोनों स्पष्ट हो जाते हैं।

किन्तु ऋग्वेद के प्रथममण्डलीय १२६ वें सूक्त की छठीं तथा सातवीं ऋचा से ही, जहाँ कक्षीवान् की पत्नी रोमशा कहती है—

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥
उपोप में परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥

अर्थात् 'हे प्रियतम मुझे पास आकर स्पर्श करो, मुझे अल्परोमवाली न समझो। तुम मेरे अंगों, गुणों एवं गृहकार्यों को तनिक भी हानिकारक नहीं पाओगे।" आदि, यह ध्वनित सा हो जाता है कि 'रोमशा' अवश्य ही ईषद्रोगिणी थी। इसी कारण उसे भय था कि कहीं पतिदेव उससे घृणा न करते हों। नारी के जीवन में पति की तिलमात्र भी अवमानना वज्रपात बन कर आती है। अतः सिद्ध है कि 'घोषा' ने 'जन्मगत रोग, की यह दाय अपनी माँ से ही प्राप्त की थी।

---

२४. सविस्तर द्रष्टव्य वृहद्देवता अध्याय ४ पृष्ठ १०१, तथा श्रीमद्भागवत ४-१-३५ (गीताप्रेस)

२५. ,, ,, ,, अध्याय ३, पृ० ९५।

उर्वशी है। उर्वशी की कथा, बृहद्देवता, सप्तम अध्याय के आठ श्लोकों (१४०-१४७ तक) मे वर्णित की गई है। इसके अनुसार 'प्राचीनकाल में उर्वशी राजा ऐल पुरुरवा के साथ बहुत दिनों तक (पत्नी बनकर) रही। इन्द्र से यह सहन न हो सका और उन्होंने वज्र को आदेश दिया कि वह, इन दोनों का प्रणय विनष्ट कर दे। वज्र ने अपनी माया से ऐसा ही किया। उर्वशी से हीन राजा उन्मत्त हो गए। बहुत दिनों तक बेसुध होकर भ्रमण करने के बाद, एक दिन एक सरोवर में, उन्होंने सखियों सहित उर्वशी को देखा। पर राजा द्वारा स्नेह एवं सविनयानति बुलाए जाने पर भी वह नहीं आई। और उत्तर दिया कि 'स्वर्ग में ही हम दोनों का पुनर्मिलन संभव है'। इस घटना को यास्काचार्य 'संवाद' मानते हैं, पर आचार्य शौनक ने इसे 'इतिहास' स्वीकार किया है।[२६]

तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करने पर यह ज्ञात होता है कि बृहद्देवता में जिस बात या रहस्य को 'वज्र की माया' कह कर पटान्तरित कर दिया है, वही रहस्य अन्य पौराणिक ग्रन्थों मे उर्वशी विषयक वृत्तान्त का प्रमुख अंग बन जाता है। श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, रामायण, महाभारत प्रभृति समस्त 'पुरुरवोर्वशी' संबंधी आख्यात्‌ ग्रंथों मे इस रहस्य को इस प्रकार बताया गया है—उर्वशी 'मित्रावरुण' के शाप वश पृथ्वीलोक मे कुछ दिनों के लिए आई थी। उसने राजा पुरुरवा के सौन्दर्याकर्षण वश, इस शर्त पर उनकी पत्नी बनना स्वीकार किया कि—(१) उर्वशी उन्हें कभी भी नंगा न देख सके और (२) उसके पुत्रसदृश दोनों मेष (मेमने) कभी भूखे न रह सकें। राजा ने इन प्रतिज्ञाओं का आजीवन पालन किया। किन्तु जब स्वर्गलोक मे उर्वशी की अनुपस्थिति समस्त देवमण्डली को अखरने लगी तो एक रात इन्द्र की आज्ञा से दो गन्धर्वों ने मेषशावकों का अपहरण कर लिया। उर्वशी ने चिल्लाकर राजा को इसकी सूचना दी, किन्तु रात्रि के समय, प्रतिज्ञाभयवश, नग्नदेहवाले राजा न उठे। पर जब उर्वशी ने करुण एवं आर्तनाद करके अपनी 'असहायता' पर व्यङ्ग्य-विन्यासपूर्वक कोसना प्रारंभ कर दिया, तब विवश होकर पुरुरवा तलवार लेकर रक्षणार्थ दौड़ पड़े। किन्तु दुष्ट गन्धर्वों ने भयङ्कर बिजली चमका कर राजा की नग्नता प्रत्यक्ष कर दी। इधर जब नरेश लौटे तो शय्या पर उर्वशी नहीं मिली, और प्रेयसी के वियोग मे वे पागलों की तरह घूमने लगे। बहुत दिन तक भ्रमण करने के बाद अन्ततः उन्होंने उर्वशी को एक सरोवर तट पर देखा, और अपनी वेदना का मार्मिक वर्णन किया। उर्वशी की आँखों मे आँसू आ गये, उसने अपनी बेबशी बताई और वचन दिया कि एक वर्ष बाद वह अपने पेट मे स्थित पुरुरवा के बच्चे को, उन्हे समर्पित करने आएगी, तभी पुनर्मिलन होगा।

---

२६ 'संवाद मन्यते यास्क इतिहासस्तु शौनक' (श्लोक १४७)

प्रस्तुत सूक्त का संवाद इसी प्रसंग का है, जब उन्मत्त दशा में राजा की भेंट ऊर्वशी से हुई। ऊर्वशी राजा को अनेक प्रकार से समझाती है और मरणोन्मुख राजा को धैर्य धारण करवाती है। वह अन्त में स्त्रियों के प्रेम की कलई खोलती हुई राजा को सचेत करती है कि 'स्त्रियों एवं वृकों का हृदय एक-सा ही होता है, उनकी मित्रता कभी भी अटूट नहीं होती है।२७

'पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास् उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥

अपने शोधप्रबन्ध में श्री रायजी ऊर्वशी को ऋषि (अर्थात् कवयित्री) नहीं मानते। ऊर्वशी विषयक उनकी आपत्तियाँ ठीक वही हैं, जो उन्होंने अन्य कवयित्रियों के विषय में कही हैं।२८ ऊर्वशी ही एक ऐसी कवयित्री है, जिसका इतिहास अन्यों की अपेक्षा अत्यन्त प्रामाणिक है। हमें उसे कभी भी काल्पनिक अथवा केवल 'नाटकीयपात्र' भर ही नहीं स्वीकार करना चाहिये।

## ६. वाक् (आम्भृणी)

अब कुछ ऐसी कवयित्रियों का परिचय दिया जा रहा है, जिन्हें पाश्चात्य विद्वान अमूर्त, उपाधिमात्र अथवा काल्पनिक स्वीकार करते हैं। कवयित्रियों की एतादृशी संख्या दो है (१) आम्भृणी वाक् (२) और कामायनी श्रद्धा।

वाक् के विषय में श्री राय साहब का मत है कि वाक् 'स्पीच' का पर्याय है। अतः 'वागाम्भृणी' का अर्थ है 'महर्षि अम्भृण द्वारा कही गई वाणी या सूक्त'। या दूसरा विकल्प यह भी सम्भव है कि ये मंत्र अम्भृण की कन्या द्वारा कहे गये (पर जिसका नाम शायद 'आम्भृणी' रहा हो न कि वाक्) हों किन्तु शोधकर्ता के ही शब्दों में वाक् 'स्पीच' को व्यक्तिवाचक नाम नहीं माना जा सकता।२९

---

२७. तुलनीय श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९ अध्याय १५, श्लोक ३६ तथा ३७।
'मा मृथाः पुरुषो ऽसित्वं मा स्मत्वाद्यु र्वृका इमे क्वापि संख्न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा॥
स्त्रियो ह्यकरुणा क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः घ्नत्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत॥

२८. द्रष्टव्य ऋग्वेद के देवता' (ऊर्वशी पुरूरवाऐल) पृ० ४२०।

२९. ,, ,, ,, (वागाम्भृणी) पृ० ४३१। मैकडोनेल एवं कीथ ने वैदिक इंडैक्स पृ० २७९ [II] पर वाक् के विषय में जो सामग्री सङ्कलित की है वह केवल 'वाणी' अर्थात् स्पीच की व्याख्या मात्र से संबद्ध है। किन्तु मन्त्रद्रष्टी वाक् के विषय में उन्होने कोई प्रकाश नहीं डाला अन्यथा कवयित्री की ऐतिहासिकता के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण अवश्य ज्ञात होता।

किन्तु श्री राय साहब की यह लौहमयी घोषणा बजाय इसके कि हमारे बौद्धिक चिन्तनविधा में खलबली मचा दे, उलटे उनके प्रति हमारी रही सही आस्था को ही कम करती है। यदि आज, स्त्रियों का नाम, श्रद्धा, वाक्, शान्ति इत्यादि हो सकता है, तो क्या प्रमाण कि वाक् महर्षि अम्भृण की कन्या नहीं थी। 'यह शब्द क्यों 'स्पीच' का ही पर्याय होगा, व्यक्ति विशेष का नहीं' इस विषय में हम श्री राय साहब का 'उनका सारहीन किन्तु दृढ़मत' भले समझ ले पर उनका (इसकी पृष्ठभूमि में स्थित) 'विवेकपूर्णसिद्धान्त' नहीं ही समझ सकते।

एक और तो आधुनिक-शोधक वाक् को ऋषि ही नहीं मानते, दूसरी ओर ईसाके भी पूर्ववर्ती महर्षि शौनक, आर्षानुक्रमणी (१०।६२) में स्पष्ट कहते हैं—

'अहं रुद्रेभिरित्यस्मिन् आम्भृणी नाम वागृषि'

'बृहद्देवता' में यद्यपि आचार्य ने इस विषय में कोई विशेष सूचना नहीं दी है, तथापि वाक्सूक्त को प्रामाणिक ही स्वीकार किया है—'अहं वाक्सूक्तमर्यमणो मित्रस्य वरुणस्य च ॥ ८।४९'

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद दशम मण्डल का १२५ वाँ सूक्त है। इसमें कुल ८ त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द हैं, जिनमें कवयित्री वाक् परमात्मा अर्थात् परब्रह्म की सत्ता में सर्वथा अपना विलयकर देती है, और तब स्वयं ब्रह्मरूपा होकर, ब्रह्म के ही उद्‌गारों को प्रकट करती है। उन उद्‌गारों का भाव है—"समस्त देवताओं का उत्पादक-स्वयं ता एवं अधिष्ठाता, प्राणिमात्र में वर्तमान, बलवान् मेधावी, कवि स्तोता सबका निर्माता, धनप्रापयिता निखिलविश्व पालक एवं (प्रलयकाल में) संहारक मैं (ब्रह्मविलीन अम्भृण की पुत्री वाक्) ही हूँ॥" कवयित्री की यह अहन्ता, उसकी ब्रह्मलीनता का परिचय देती है। कहीं कहीं तो भाव अत्यन्त मनोरम से लगते हैं—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
३० तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

जब साधनचतुष्टय सम्पन्न साधक, ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेता है तो समस्त 'स्व-पर' की भावना, समस्त संकीर्ण विचार उसकी बुद्धि से लुप्त हो जाते हैं। वह विराट रूप में मिल कर समस्त पृथ्वीमण्डल को एक ही देखता है—

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

---

३० यदि अम्भृण ही इस सूक्त के ऋषि होते तो 'तं माम्' पद आना चाहिए था न कि 'तां माम्'।

ब्रह्मवादिता का यह दृष्टान्त, हमारे देश का एकमात्र दृष्टान्त नहीं है। क्योंकि 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में, हम गार्गी की विद्वता से सर्वथा अभिज्ञ हैं, जिसने महर्षि याज्ञवल्क्य को भी क्षण भर के लिए, मूढ़-सा बना दिया था।[३१] अपाला, घोषा आदि भी इसी कोटि की कवयित्रियाँ थीं।

## ७. श्रद्धा ( कामायनी )

दशममण्डल का १५१ वाँ सूक्त, कवयित्री कामायनी श्रद्धा द्वारा प्राप्त किया गया है। अनुष्टुप् छन्दों में कुल ५ मंत्र इस सूक्त में हैं, जिसमें कवयित्री ने 'श्रद्धा' की प्रशस्ति गाई है। भारतीय दर्शन के अध्ययन में, पाठक के अनेकगुणों में से एक गुण यह भी बताया गया है कि वह 'श्रद्धास्तिक्य बुद्धिवाला' हो। अतः श्रद्धा का अर्थ है किसी के व्यक्तित्व में या उसके प्रति 'अनुरागमिश्रित समादर एवं विश्वास'। इसी भाव विशेष को कवयित्री यहाँ मूर्त मान कर, उसका मानवीयकरण करके, उसके प्रति अपना भाव व्यक्त करती है। पर ये बातें हम केवल अधिदेवता के विषय में ही कह रहे हैं न कि कामवंश में उत्पन्न कवयित्री श्रद्धा के विषय में। क्योंकि मैकडोनेल तथा ब्लूमफील्ड आदि मनीषी श्रद्धा को भी उपाधि मात्र या अमूर्त मात्र मानते हैं।

आर्षानुक्रमणी ( मण्डल १०, श्लो० ७८ ) में आचार्य शौनक, स्पष्टतः प्रस्तुत सूक्त का अधिगन्तृत्व श्रद्धा को देते हैं—'श्रद्धयाग्निरिति त्वस्य श्रद्धा कामायनी मुनिः'

बृहद्देवता ( अध्याय ८, श्लो० ५६ ) में भी इसे 'श्रद्धा' द्वारा प्रोक्त मेधा-सूक्त बताया गया है—'आग्नेयं श्रद्धया श्राद्धं मेधासूक्तमतः परम्'।

सायणाचार्य ने प्रस्तुत सूक्त के भाष्य में 'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका' कह कर श्रद्धा को ऋषि स्वीकार किया है। पौराणिक आख्यानों से यह प्रमाण मिलता है कि श्रद्धा वैवस्वतमनु की पत्नी थी। इसी कारण, समस्त वैदिक-वाङ्मय में मनु के लिए 'श्राद्धदेव' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में भी उन्हें 'श्रद्धादेव' कहा गया है—श्रद्धादेवो वै मनुः' ( शत० प्रथमकाण्ड, प्रथमप्रपाठक ) श्रीमद्भागवत में इन्हीं वैवस्वतमनु

---

३१. द्रष्टव्य-बृहदा० अध्याय ३, ब्राह्मण ७ एवं ८ ( 'गीताधर्म' उपनिषद् वार्षिक विशेषाङ्क, जनवरी १९५० )

'चौखम्बा संस्कृत सीरिज' वाराणसी [ विद्यानन्द महाराज कृत भाष्य युक्त ]

और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि मानी गई है३२—'ततो मनु श्राद्धदेव सज्ञायामास भारत श्रद्धाया जनयामास दशपुत्रान्स आत्मवान् ॥ ( ९।१।११ )

कामगोत्र में उत्पन्न होने के कारण ही श्रद्धा की उपाधि 'कामायनी' बताई गई है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि 'दाक्षायणी' आदि है। इस प्रकार इन प्रमाणों से यह बात निश्चित हो जाती है कि श्रद्धा काम-वंश में उत्पन्न हुई थी, तथा वैवस्वत मनु की पत्नी थी। वैवस्वत मनु सूर्य की 'सज्ञा' नामक पत्नी से उत्पन्न हुए थे ( सविस्तर द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत ९ स्कन्ध का प्रथम अध्याय )

प्रस्तुत सूक्त में 'श्रद्धा' को ही कवयित्री ने बारम्बार स्मरण किया है। वही अग्निप्रदीप्त करती है, सम्पत्ति दात्री है, अत उसी की अनुकूलता हमें सुखी बना सकती है—

'श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसावेदयामसि ॥१॥

प्रिय श्रद्धे ददत प्रिय श्रद्धे दिदासन प्रिय भोजेषु यज्वस्विद म उदित कृधि ॥२॥"
आदि।

---

३२ आगे चौदहवे श्लोक में 'श्रद्धा का मनु की पत्नी होना' और भी निश्चय हो जाता है-

'तत्र श्रद्धा मनो पत्नी होतार समयाचते।

दुहितर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥'

# वज्रयानी सिद्ध कान्हपा की रचनाओं की सूची§

द्विजराम यादव

तिब्बती त्रिपिटक में चौरासी सिद्धों की दो सूचियाँ मिलती हैं। पहली सूची 'चतुराशीतिसिद्ध संबोधिहृदय नाम' तथा दूसरी सूची 'चतुराशीतिसिद्धप्रवृत्ति' नामक ग्रंथ में उपलब्ध है। इन सूचियों के अनुसार सिद्ध कान्हपा का स्थान सत्रहवाँ है। राहुल सांकृत्यायन ने भी चौरासी सिद्धों की सूची उपरिलिखित ग्रंथों के आधार पर दी है, इसलिए उनकी सूची में भी कान्हपा सत्रहवें सिद्ध हैं। कालक्रम की दृष्टि से विचार करते हुए राहुलजी ने कान्हपा को पंद्रहवाँ सिद्ध माना है।

ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर के सप्तम कल्लोल में चौरासी सिद्धों का उल्लेख किया है। यद्यपि इस सूची में चौरासी सिद्धों के नाम नहीं हैं तथापि एक सिद्ध कान्हकन का उल्लेख है। संभवतः यह कान्हपा ही हैं। योगी सम्प्रदाय की सूची में एक 'करणिपा' तथा नाथ सम्प्रदाय की सूची में 'कनिपा' नाम के व्यक्ति मिलते हैं। तिब्बती सूची के अनुसार अठारहवें सिद्ध का नाम गुरु 'कनरीपा' है। 'करणिपा' और 'कनिपा' को 'कनरीपा' (करणिपा) से अभिन्न माना जा सकता है। यदि ऐसा मान लेना ठीक है तो योगी और नाथ सम्प्रदाय के करणिपा और कनिपा कान्हपा से भिन्न सिद्ध थे, क्योंकि तिब्बती सूची के अनुसार सत्रहवें सिद्ध गुरु कान्हपा और अठारहवें सिद्ध गुरु कनरीपा दो भिन्न सिद्ध हैं।

तिब्बती और भारतीय ग्रंथों में चौरासी सिद्धों की जो सूचियाँ हमें मिलती हैं उनके आधार पर सिद्धों का क्रम निर्धारित करना बड़ा कठिन कार्य है। प्रत्येक सूची में भिन्नता मिलती ही है। राहुल सांकृत्यायन ने 'पुरातत्त्व निबंधावली' में पृष्ठ १२६ पर चौरासी सिद्धों का वंश-वृक्ष दिया है; इसके अनुसार कान्हपा जालंधर के शिष्य थे तथा राजा देवपाल (सन् ८०९-८४९ ई०) के समकालीन थे। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने 'हाजार बछरेर पुराण बाङ्गला भाषाय बौद्धगान ओ दोहा' में कृष्णाचार्य का परिचय देते हुए लिखा है कि कृष्णपाद के कई नाम तांग्युर में मिलते हैं और उन्हें भारतवासी कहा गया है, लेकिन उनका जन्म-स्थान निश्चित करना कठिन है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि कृष्णाचार्य या कान्हपाद के वंशजों ने बंगला भाषा में गान और दोहे लिखे हैं। इनमें सरह, धर्म्मपाद, धतेन और महीपाद के बंगला गीत पाये जाते हैं। सरहपाद आदि-सिद्ध हैं और तिब्बती लोग

---

§ विश्वभारती पत्रिका खण्ड ७, अंक १ से आगे।

सरह को आज भी आदि-सिद्ध के रूप में मानते चले आ रहे हैं। हो सकता है कि कृष्णाचार्य सरहपाद के वंशज रहे हों। लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'चतुराशीतिसिद्धप्रवृत्ति'[1] में कान्हपा की जीवनी विस्तार से दी गई है, जो संक्षेप में इस प्रकार है —राजा देवपाल ने सोमपुरी विहार का निर्माण करवाया था। वहीं पर गुरु जालन्धर ने आचार्य कान्हपा का अभिषेक किया। नाना प्रकार के अलौकिक चमत्कार दिखाने के बाद कृष्णपाद लंकापुरी जा रहे थे, परन्तु गर्व हो जाने के कारण रास्ते में समुद्र पार करते समय डूबने लगे। जालन्धर ने आकर उन्हें बचाया और पुनः उपदेश दिया कि 'मेरे देश में (साल्पुत्र) धर्मराज धर्मफल (धर्मपाल) रहता है। वहाँ मेरा शिष्य तंतिपा है। वहाँ जाकर उसके कहने के अनुसार काम करो।'

तंतिपा से मिलने पर कानहपा को अनेक घृणित साधनाएं करनी पड़ीं। इस प्रकार की साधना के लिए इच्छुक न होने पर कान्हपा भदुओ-कोरा नामक देश चले गए। वहाँ पर आम रखाने वाली एक लड़की पर अपना मंत्र चलाया जिसका बड़ा बुरा परिणाम हुआ। लोगों के धिक्कारने पर लड़की को ठीक किया और स्वयं मंत्रों से घायल हो गए। उन्हें ठीक करने के लिए वराही देवी श्रीपर्वत से औषधि (जड़ी) लेने गयी।"

दुपग-ग्रुसम-लजोन-वमट् में कृष्ण को ओडिसा के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न बतलाया गया है तथा जालन्धरीपा का शिष्य कहा गया है। लामा तारानाथ के अनुसार भी कृष्णपा जालंधरी भर्तृहरि, गोपीचन्द और धर्मकीर्ति के समकालीन थे। धर्मकीर्ति सन् ६२५-६५० ई० में विद्यमान था। (साहित्य परिषद् पत्रिका (बंगला) संख्या ३, बंगाब्द १३२१, पृष्ठ २३१) कानहपा की रचनाओं का अनुवाद धर्मकीर्ति ने भी किया है, इसलिए यदि धर्मकीर्ति नाम के दो व्यक्ति नहीं थे तो यह मानना पड़ेगा कि कृष्णपा सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अवश्य विद्यमान थे, नहीं तो उनकी कृतियों का अनुवाद धर्मकीर्ति किस प्रकार करते। डाक्टर शहीदुल्ला ने कान्हपा का समय लगभग सन् ६७५ ई० ७०० ई० के बीच माना है। (सा० प० प०, सं० ?, पृ० १७) तिब्बती परम्परा के अनुसार कान्हपा सोमपुरी महाविहार में रहते थे। उन्होंने सोमपुरी महाविहार में ही अपनी 'धर्मकामदीपसिद्धि' नामक पुस्तक की रचना की थी। जालन्धरीपा राजा इन्द्रभूति के शिष्य थे और पद्मसम्भव को इन्द्रभूति ने गोद लिया था, जिनका समय जर्मन पंडित Schlagint Weit के अनुसार सन् ७२१ ?? ई० है। इन्द्रभूति धर्मकीर्ति के समकालीन

---

[1] 'चौरासी सिद्धों की जीवनी' का हिन्दी अनुवाद डा० रामसिंह तोमर तथा श्री डिछ-मेद-रिंग-ज़िन लामा ने किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

थे। अतः जालंधरीपा सातवीं शताब्दी के मध्य में एवं शिष्य काह्नपा सन् ६७५-७७५ के बीच विद्यमान थे। काह्नपा का निम्नतम समय उनकी पुस्तक "श्रीहेवज्र पंजिका योगरत्नमाला" (११) के आधार पर निश्चित कर सकते हैं। इस पुस्तक की नकल गोविन्दपाल देव के शासन काल के ३९ वें वर्ष भाद्र की १४ वीं तारीख को कायस्थ गयाधर ने तैयार की थी। इसका लिपिकाल ११९९ ई०-१२०० ई० निश्चित होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि काह्नपा १२ वीं शताब्दी से पहले तो अवश्य वर्तमान थे।

काह्नपा की कुछ रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध हैं। डा० बागची ने 'चर्यागीति कोष' में यथासंभव शुद्ध पाठ देने का प्रयास किया है। इसके पहले 'बौद्धगान ओ दोहा' में भी इनका संग्रह निकला था। चर्यागीति कोष में इनके तेरह पद तथा बत्तीस दोहे हैं। इसमें संगृहीत पद और दोहे काह्नुपाद, काह्नपाद, कृष्णचर्यापाद, कृष्णपाद, कृष्णवज्रपाद, कृष्णाचार्यपाद, काहनपाद के नाम से मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाम की अनेकरूपता कृष्णपाद या काह्नपाद को एक सिद्ध मान लेने में बाधा उपस्थित करती है। गीति संख्या २४ का मूल नहीं प्राप्त हुआ है, उसका संस्कृत पाठ तिब्बती से तैयार किया गया है, जिसमें एक स्थान पर 'कृष्णपादः' का प्रयोग हुआ है। अन्य बारह गीतियों में काह्न ; काह्न, काहिनल, काहिनला मिलता है। काह्न या काहिनल शब्द संस्कृत कृष्ण के अपभ्रंश रूप हैं। अतः कृष्ण और काह्न में कोई अंतर नहीं है। कृष्णपाद के दोहों में भी चार बार काह्न शब्द आया है। तिब्बती परम्परा के अनुसार छोटे कृष्णपाद और बड़े कृष्णपाद, दो थे। नीचे दी गई सूची से यह स्पष्ट हो जायगा कि एक कृष्ण अनुवादक भी थे। अतः किसी प्रामाणिक तथ्य के अभाव में कृष्ण, कृष्णपाद और काह्नपाद में अन्तर बतलाना कठिन कार्य है।

प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि कृष्णपाद (काह्नपा) का समय ८ वीं शताब्दी के लगभग मानने में कोई अपत्ति नहीं होनी चाहिए। कृष्णपाद के गुरु जालंधरि थे, जिसका उल्लेख उन्होंने चर्या संख्या ३६ में इस प्रकार किया है—

शाखि करिब जालंधरि पाए।
पाखि न चाहइ मोरि पाण्डिआचाए॥ चर्या० ३६।४॥

काह्नपाद की उपलब्ध अपभ्रंश कृतियों में यौगिक साधनाओं तथा वज्रयानी सिद्धान्तों, मंडल रचना, बलिविधि आदि का उल्लेख मिलता है।

तिब्बती त्रिपिटक में काह्नपा के विभिन्न नामों से निम्नलिखित कृतियाँ मिलती हैं। इन कृतियों की भारतीय भाषा में सर्वप्रथम सूची महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने कार्दिये के सूची-पत्र के आधार पर 'बौद्धगान ओ दोहा' में दी थी, उनकी सूची में ५७ कृतियों का

उल्लेख है। उनकी सूची में भी मिलने वाली कृतियों के सामने नीचे दी गई सूची में इ० शा० सकेत दिया गया है। राहुल सांकृत्यायन ने 'पुरातत्त्व निबंधावली' में कृष्णपाद के ७४ ग्रंथों का उल्लेख किया है तथा छ अपभ्रंश कृतियों का नामोल्लेख किया है। नीचे दी गई सूची में रा० सा० सकेत द्वारा इन कृतियों का परिचय दिया गया है। हम नीचे एक नई सूची दे रहे हैं जो जापान से प्रकाशित, प्रो० सुजुकि द्वारा सपादित तिब्बती त्रिपिटक[*] के आधार पर तयार की गई है। अबतक की सूचियों में उपलब्ध ग्रंथों से इस सूची में अनेक नए ग्रंथों की सूचना मिलेगी। जिस क्रमसे ये ग्रंथ त्रिपिटक तान्ग्युर में मिलते हैं उसी क्रम से इस सूची में नाम दिए जा रहे हैं —

१—श्रीचक्रसंवर साधन नाम—कृष्णाचार्य या काह्नपाद ( प्रो० सुजुकी द्वारा सपादित तिब्बती त्रिपिटक में इस कृति के लेखक का नाम व्रताचार्य है और कार्दिये के इण्डेक्स के अनुसार काह्नपाद या कृष्णाचार्य है ) ( तिब्बती त्रिपिटक खण्ड ५१, पृष्ठ २०१ )

२ (अ) भगवच्छ्रीचक्रसम्वरमण्डलविधि—कृष्ण ( काह्नपाद ), अनु० बुद्धश्रीशान्ति, मिलाया —गयाधर ने। ( तिब्बती त्रिपिटक खण्ड, ५१, पृष्ठ २१० ), [ इ० शा० ]

२ (ब) भगवच्छ्रीचक्रसम्वरमण्डलविधि—कृष्ण, अनु० धर्मश्रीभद्र, मिलाया सुमतिकीर्ति ने। ( तिब्बती त्रिपिटक, खण्ड ५१, पृष्ठ २१० ) २ (अ) और (ब) एक ही कृति है अनुवादक दो अलग-अलग हैं। [ इ० शा० ]

३ श्रीचक्रसम्वरहोमविधि—कृष्ण ( काह्नपाद ), अनु० धर्मभद्र-विद्याकुमार। ( ति० त्रि०, खण्ड ५१ पृष्ठ २१७ )

४ वसन्ततिलक नाम—श्रीकृष्ण ( काह्नपाद ), अनु० पडित सुमतिकीर्ति, धर्मेश्वर। ( ति० त्रि०, खण्ड ५१, पृष्ठ २२० ) [ रा० सा०, इ० शा० ]

५ गुह्यतत्त्वप्रकाशनाम—कृष्ण, अनु० गयाधर, मिलाया—सुमतिकीर्ति और धर्मेश्वर ने। ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५१, पृष्ठ २२४ ) [ इ० शा० ]

६ आलिचतुष्टय—कृष्ण ( काह्नपाद ), अनु० श्री सुमतिकीर्ति। ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५१, पृष्ठ २२८ ) [ इ० शा० ]

७ आलिचतुष्टयविभगनाम—कृष्ण, अनु० प्रज्ञाकीर्ति। ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५१, पृष्ठ २२९ ) [ इ० शा० ]

---

[*] दि टीबेटन त्रिपिटक—पेकिंग सस्करण, टी० टी० सुजुकी, प्रकाशक—टीबेटन त्रिपिटक रिसर्च इंस्टीट्यूट, टोकियो, जापान, सन् १९५७ ई०।

८. सप्ताक्षर साधन—कृष्ण ; अनु० वागीश्वर ; मिलाया—धर्मेश्वर ने। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५१ ; पृष्ठ २३४) [ ह० शा० ]

९. संवरव्याख्या—कृष्ण ; अनु० धर्माकर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५१ ; पृष्ठ २४१) [ ह० शा० ]

१०. आलोकचतुरटीका नाम—कृष्ण ; अनु० श्रीधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५२ ; पृष्ठ १८२) [ ह० शा० ]

११. योगरत्नमाला-नाम-हेवज्रपंजिका—कृष्ण ; अनु० कृष्णपंडित (कृष्णपाद)। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५३, पृष्ठ १२७) [ ह० शा० ]

१२. हेवज्रनाममहानन्त्रराजद्विकल्पमापस्य पंजिका स्मृति निबंध नाम—कृष्ण ; अनु० श्रीमत्चन्द्र। (तिब्बति त्रि०, खण्ड ५४ ; पृष्ठ ४१) [ ह० शा० ]

१३. आर्यडाकिनीवज्रपञ्जर नाम महातंत्रराजकल्पमुखबंध—कृष्णपाद ; अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५४ ; पृष्ठ २८९) [ ह० शा० ]

१४. श्रीहेवज्रकवीर साधन—कृष्ण ; अनु० कृष्ण, देवसुत। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ १९८) [ ह० शा० ]

१५. हेवज्रसाधन तत्त्वोद्द्योतकार नाम—कृष्णपाद ; अनु० महापंडित कृष्ण, उड़ीसा के निवासी। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ १९९) [ ह० शा० ]

१६. श्रीहेवज्रपद्धतिमण्डलविधि—कृष्ण ; अनु० कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ २०४) [ ह० शा० ]

१७. होमविधि—कृष्ण ; अनु० कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ २१५) [ ह० शा० ]

१८. हेवज्रहोमविधि—कृष्ण ; अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ २१७) [ ह० शा० ]

१९. गणचक्रपूजाक्रम—कृष्ण, कृष्णपंडित। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ २२०) [ ह० शा० ]

२०. स्तूपविधि नाम—कृष्णपाद ; अनु० जैतकर्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ २२२) [ ह० शा० ]

२१. प्रतिष्ठाविधि नाम—कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५६ ; पृष्ठ २१९) [ ह० शा० ]

२२. मृत्युविधान नाम—कृष्णपाद ; अनु० जैतकर्ण। (तिब्बती त्रि०, पृष्ठ २२२, खण्ड ५६) [ ह० शा० ]

२३ षोडशभुजदेववज्रसाधन—कृष्ण ( -पा ) [ हेवज्रषोडशभुज-साधन, तिब्बती त्रि० के अनुसार नाम ] । (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० २६ ) [ ह० शा० ]

२४ सर्वभूतबलिविधिनाम—कृष्णपाद अनु० सूर्यध्वजश्रीभद्र ।
( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृष्ठ ३१ ) [ ह० शा० ]

२५ नैरात्मा साधन—कृष्णपण्डित । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० ४३ ) [ ह० शा० ]

२६ कुरुकुल्लासाधन—कृष्णवज्र, अनु० ज्ञानध्वज । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृष्ठ ५३ ) [ ह० शा० ]

२७ महामायातन्त्रस्यवृत्तिस्मृति नाम—कृष्णवज्र, अनु० जिनवर । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० २६७ ) [ ह० शा० ]

२८ श्रीबुद्धडाकिनी साधन—कृष्ण ( -पा ) । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० २९५ ) [ ह० शा० ]

२९ महामायामण्डलविधिक्रमबोधन नाम—काह्नु (-पा ), अनु० कर्मवज्र और कुमारशील ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० २९६ )

३० सप्तपर्वविधि—कृष्ण-पा । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० ३०३ ) [ ह० शा० ]

३१ सामान्यधर्मचर्या—कृष्ण-( पा ) । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ५७, पृ० ३०१ ) [ ह० शा० ]

३२ रक्तैकजटाधिष्ठानविधि—काह्नुपाद, अनु० नरेन्द्रभद्र । (तिब्बती त्रि०, खण्ड ५९, पृ० ९४ )

३३ श्रीगुह्यसमाजमण्डलोपायिका—कृष्ण—अनु० कृष्ण । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ६२, पृ० ४३ ) ] ह० शा० ]

३४ श्रीवज्रसत्त्वपूजाविधि—कृष्ण, अनु० कृष्ण । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ६२, पृष्ठ ४९ ) [ ह० शा० ]

३५ बलिविधि—कृष्ण । ( तिब्बती त्रि० खण्ड ६२, पृष्ठ ५० ) [ ह० शा० ]

३६ प्रतिष्ठाविधिक्रम—कृष्ण, अनु० कृष्ण । तिब्बती त्रि०, खण्ड ६२, पृष्ठ ५१ ) [ ह० शा० ]

३७ पचक्रमपजिका—कृष्णस्, अनु० कृष्णपण्डित । ( तिब्बती त्रि०, खण्ड ६२, पृष्ठ २१९ ) । लेकिन पेकिंग वाले सस्करण के अनुसार इसके रचयिता समयवज्र हैं । [ ह० शा० ]

३८. कृष्णयमारितन्त्रराजप्रेक्षणपथप्रदीपनाम टीका—कृष्ण ; अनु० प्रज्ञाश्रीज्ञानकीर्ति। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६६, पृष्ठ २६३) [ ह० शा० ]

३९. भट्टारकमंजुश्रीयमारिपूजाविधिक्रम नाम—कृष्णपंडित। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६७ ; पृ० ७२) [ ह० शा० ]

४०. कृष्णयमारिबुद्धसाधन नाम—कृष्णपाद ; अनु० प्रज्ञाश्रीज्ञानकीर्ति। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६७ ; पृ० ७३) [ ह० शा० ]

४१. धर्मकायदीपविधि नाम—कलापमह (कृष्णपाद) सोमपुरी विहार के ; अनु० प्रज्ञाज्ञान। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६७ ; पृष्ठ ७६) [ ह० शा० ]

४२. कृष्णयमारिरसहोमविधि नाम—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६७ ; पृष्ठ ७७) [ ह० शा० ]

४३. कल्पसप्तकवृत्ति—कृष्ण ; अनु० वैरोचनरक्षित। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६७ ; पृष्ठ ७७) [ ह० शा० ]

४४. गुह्यपतिवज्रपाणिसाधन—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६८ ; पृष्ठ १३१) [ ह० शा० ]

४५. गुह्यपतिवज्रसाधन—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६८ ; पृष्ठ १३७) [ ह० शा० ]

४६. पंचसर्ग नाम—कृष्ण (कृष्णपाद) (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६९ ; पृ० १३१) [ ह० शा० ]

४७. वज्रगीति—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६९ ; पृष्ठ १३९) [ ह० शा० तथा रा० सां० ]

४८. दोहाकोश—कृष्णवज्र (-ज्रपाद) ; अनु० वैरोचनवज्र कोशल के। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६९ ; पृ० १७२) [ ह० शा० तथा रा० सां० ]

४९. असंबंधदृष्टि नाम—कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६९ ; पृ० २००) [ ह० शा० तथा रा० सां० ]

५०.(अ) गणचक्रविधि नाम—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६७ ; पृ० ७७) [ ह० शा० ]

५०.(ब) गणचक्रविधि—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ७० ; पृ० २४) [ ह० शा० ]

५१.(अ) कुरुकुल्लासाधन—काह्नपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८१ ; पृ० ३१)

५१ (ब) कुरुकुल्लासाधन—श्रीकाह्नपाद, अनु० ठग-प-ग्यल शन। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८१, पृ० ३३)

[ कुरुकुल्लासाधन नाम की तीन रचनाएं क्रम संख्या २६, ५१ (अ) और ५१ (ब) मिलती हैं और तीनों क्रमश: कृष्णवज्र, काह्नपाद और श्री काह्नपाद के नाम हैं ]

५२ महायानमेलायनप्रदीप—कृष्णपाद—अनु० कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८१, पृ० २०१)

५३ मृत्युपतिप्रमथनी नाम साधनोपायिका—कृष्णपाद, अनु० शाक्यज्ञान। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८२, पृ० ९९)

५४ वसन्ततिलकनाम—कृष्ण, अनु० गयाधर। (इसी नाम की एक रचना और है जिसका क्रमांक इस सूची में ४ है, परन्तु उसके अनुवादक प० सुमतिकीर्ति हैं।) [ तिब्बती त्रि०, खण्ड ८२ पृष्ठ १०३ ]

५५ सर्वप्रेतनजूपाश—कृष्णपाद, अनु० प्रज्ञाश्रीज्ञानकीर्ति। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६, पृ० ३९)

५६ आर्यश्रीयमकालायुष्पतिसाधन नाम—कृष्णपाद, अनु० धर्मकीर्ति (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८३, पृ० ४०)

५७ निवारणशोधनान्तरपापोन्नस्नानविधि—कृष्णपाद, अनु० धर्मकीर्ति। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८३, पृ० ४१)

[ ५६ और ५७ संख्या की कृतियों के रचयिता का नाम जापान वाले संस्करण में नहीं मिलता। ]

५८ श्रीयमकालायुष्पतिमण्डलविधि—कृष्णपाद, अनु० कृष्णपाद। तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६, पृ० ४१)

५९ बलिस्नानविधिसहित यमायुष्पतिकाल साधन—कृष्ण, अनु० धर्मकीर्ति। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ में मिलने की संभावना है ?) (कार्दिये के अनुसार ठीक है।)

६० श्रीमहाकालसिद्धिरक्षाप्रत्यङ्गिरसाधन नाम—कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६, पृ० १९०)

६१ विनायकराजसाधन नाम—काह्नपाद—अनु० गयाधर। तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६, पृ० २०६)

६२ कर्मीरमणिचक्रसम्वरसाधन नाम—कृष्ण अनु० गयाधर (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६, पृ० २०६)

६३. श्रीवज्रडाकिनीसाधन नाम—काह्न ; अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृ० २०७)

६४. विनायकराजसाधन नाम—कृष्ण , अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृ० २०७)

६५. आर्यगणपतिस्तुति—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृ० २०७)

६६. महाविनायकरूपोपदेश चिन्तारत्न नाम—कृष्ण ; अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि० ८६ ; पृ० २०७)

६७. विनायकहोमविधिप्रभाषण—श्रीकृष्ण ; अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृष्ठ २०८)

६८. आर्यगणपतिचिन्तारत्न (साधन)—कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृष्ठ २११)

६९. आर्यगणपतिबलिविधि—कृष्णपाद ; अनु० गयाधर। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृष्ठ २०८)

७०. आर्यगणपतिस्तुति—कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८६ ; पृष्ठ २१२)

७१. जिनजननीविभागनिर्देश—कृष्णपाद ; अनु० कृष्णपंडित। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ ९१)

७२. महाढुण्ढनमूल नाम—काह्नपाद ; अनु० अमोघवज्र। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ १४९) [रा० सां०]

७३. रथचक्रपंचदशयंत्र—काह्नपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ १५१)

७४. चण्डालीमन्त्र—काह्नपाद ; अनु० अमोघवज्र। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ १५४)

७५. वज्रयोगिनी साधन—कृष्णपाद : अनु० आनन्दगर्भ। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ २३९)

७६. श्रीहेरुकभट्टारकसंक्षिप्तसाधन—कृष्णवज्र ; अनु० अनंगवज्र। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ २५०)

७७. जिह्वासरलीकरणोपदेश—कृष्णपाद (काह्नपाद) ; बुद्धगुप्तनाथ-तारानाथ। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ २६३)

७८. भगवत् वज्रसत्त्व-साधना-स्वाधिष्ठानोपदेशक्रम-नाम—कृष्णपाद (कुपाल)। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७ ; पृष्ठ २६०)

७९ मध्यमकप्रतीत्यसमुत्पाद-नाम—कृष्ण। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ९६, पृष्ठ १५८)

८० कायपरीक्षाभावनाक्रम—कृष्णपाद, अनु० धर्मप्रज्ञ। (तिब्बती त्रि०, खण्ड १०२, पृष्ठ ४३ और खण्ड १०३, पृष्ठ २६१ पर एक ही कृति दो बार छापी गई है)

८१ समाधिसम्भारपरिवर्तन नाम—कृष्णपाद-अनु० कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड १०२, पृष्ठ ५२)

८२ समाधिसम्भारपरिवर्तन नाम—कृष्णपाद, अनु० कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड १०३, पृष्ठ २५५)

८३ कायपरीक्षाभावना क्रम—कृष्णपाद, अनु० धर्मप्रज्ञ। (तिब्बती त्रिपिटक, खण्ड १०३, पृष्ठ २६१)

८४ त्रिस्कन्धकसाधन नाम—कृष्णपाद, अनु० दीपङ्करश्रीज्ञान। (तिब्बती त्रि०, खण्ड १०५, पृष्ठ १५३)

८५ बोधिसत्त्वचर्यावतार दुखबोध [पाद] निर्णय-नाम-ग्रन्थ—कृष्णपाद, अनु० कृष्णपाद। (तिब्बती त्रि०, खण्ड १००, पृष्ठ १८६)

८६. काह्नपादगीतिका—कृष्णपाद, अनु० अज्ञात। (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६९, पृष्ठ १९३ [रा० सां०]

इस सूची में दी गई कृतियों के अतिरिक्त महामहोपाध्याय की सूची में निम्नलिखित रचनाएँ अधिक हैं, जो जापान से प्रकाशित तिब्बती त्रिपिटक में नहीं मिलती हैं —

१ धर्मधातुस्तोत्र—कृष्ण
२, चक्रसंवरसेकप्रक्रियोपदेश—कृष्ण
३ सकलतन्त्रसम्भवसञ्चोदनी श्रीगुह्यसिद्धि नाम—कृष्ण
४ सेकनिर्देशनाम कृष्ण
५ कल्याणकामधेनु—कृष्ण
६ चक्रसंवरपञ्चक्रम—कृष्ण
७ यमारिशान्तिहोमविधि—आचार्य कृष्ण
८ यमारिशान्तिहोमविधि-आचार्य कृष्ण
९ प्रदीपोद्योतन नाम टीका—कृष्ण या काह्नपाद
१० कायवाक्चित्तामनसिकार नाम—गुरु कृष्ण।
११ विद्यास्थापनविधि—कृष्ण [ह० शा०]
१२ विघ्नराजसाधन—काह्न (कार्दिये के अनुसार)

इस प्रकार काह्नपा की लिखी हुई कुल ९८ कृतियाँ मिलती हैं। नाम वैभिन्य के आधार पर कहा जा सकता है कि काह्नपा और कृष्ण दो भिन्न सिद्ध थे।

# ग्रंथ समीक्षा

**वंसतविलास और उसकी भाषा**—संपा० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रकाशक—क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, १९६६, पृ० ९२, मूल्य ३ रुपये।

वसंतविलास शृंगारपरक प्राचीन काव्य है। विद्वानों ने इस प्राचीन लघुकृति को पर्याप्त महत्त्व दिया है। सन् १८९२ में दिवंगत दीवान बहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव ने अहमदाबाद की एक स्कूली पत्रिका 'गुजरात शालापत्र' में वसंतविलास का मूल पाठ छपाया था। उसी वर्ष सितंबर में लंदन में हुए अंतर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के नौवें अधिवेशन में उनके भाई बड़ौदा के जज एच० एच० ध्रुव ने प्राचीन गुजराती साहित्य के संबंध में एक लेख पढ़ा जिसमें वसंतविलास के महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला। सन् १९२२ या १९२३ में दीवान बहादुर के ह० ध्रुव ने कृति की कुछ अन्य उपलब्ध प्रतियों के आधार पर कृति का एक संस्करण प्रकाशित किया। सन् १९४२ में बंबई के एलफिंस्टन कालेज के अध्यापक कान्तिलाल बी० व्यास ने उस समय तक ज्ञात प्रतियों का उपयोग करते हुए वसंतविलास का एक संस्करण प्रकाशित कराया। आगे उन्होंने कृति की भाषा तथा पाठ से संबंधित कई लेख भी प्रकाशित किए। भारतीय विद्या भवन से भी कृति का एक संस्करण निकलने वाला था किन्तु अभी तक निकला नहीं। वसंतविलास की चित्रित कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं—इन लौकिक चित्रों के अध्ययन श्री ओ० सी० गांगुली, तथा श्री एन० सी० मेहता जैसे कला पारखियों ने प्रकाशित कराए हैं। प्रो० नार्मन ब्राउन ने कृति की प्राप्त ८ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वसंतविलास का सुसंपादित संस्करण सन् १९६२ में अमेरिकन ओरिएंटल सीरीज की ४६ वीं जिल्द के रूप में प्रकाशित कराया।

वसंत विलास के दो रूपान्तर मिलते हैं, एक में ८४ पद्य प्राप्त होते हैं, दूसरे में, जा आकार में छोटा है, ५२ पद्य मिलते हैं। बीच बीच में संस्कृत तथा प्राकृत के पद्य उद्धृत किए गए हैं। प्रो० ब्राउन ने अपने संस्करण में दोनों रूपान्तरों को दिया है, संस्कृत और प्राकृत के उद्धरणों को भी ज्यों का त्यों दिया है। मूल कृति तथा उद्धरणों का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है। चित्र भी प्रकाशित किए हैं। उनका संस्करण बहुत ही भव्य है। वसंतविलास 'फागु' परंपरा की प्राचीन रचना है। पुरानी गुजराती यदि और भी ठीक कहा जाय तो प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की विशेषताएँ उसकी भाषा में मिलती हैं। कृति के आलोचनात्मक पाठानुसंधान तथा भाषा के अध्ययन की कमी प्रो० ब्राउन के संस्करण में खटकती है। इस कमी की ओर प्रो० गुप्त का ध्यान जाना स्वाभाविक था। राजस्थानी या पश्चिमी हिंदी की अनेक प्राचीन, जटिल पाठ समस्याओंवाली कृतियों के आलोचनात्मक दृष्टि से शुद्ध पाठ देने के लिए विद्वत्समाज को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। वसंतविलास की जो पाठालोचन संबंधी सामग्री प्रो० ब्राउन ने अपने संस्करण में प्रस्तुत की है उसका बहुत अच्छा उपयोग प्रो० गुप्त ने अपने संस्करण में किया है। प्रो० गुप्त के संस्करण की तीन

विशेषताएँ हैं जिनके फलस्वरूप वह प्रो० ब्राउन के संस्करण से श्रेष्ठ ठहरता है। ये हैं—कृति के रचना काल पर विशेष प्रकाश डालना, मूल पाठ का अधिक संगत रूप प्रस्तुत करना और वसंतविलास की भाषा का विस्तृत विश्लेषण—प्रो० ब्राउन ने हस्तलिखित प्रतियों के लिपिकाल के आधार पर तथा भाषा के आधार पर कृति का रचनाकाल ईसा की चौदहवीं शती का अंतिम भाग या पन्द्रहवीं का प्रारंभिक भाग माना है। प्रो० गुप्त ने राउल वेलि की भाषा और विषय से साम्य को ध्यान में रखते हुए तथा वसंतविलास की स्वच्छंद, उन्मुक्त वर्णनशैली के आधार पर कृति को मुसलमान शासन स्थापित होने से पहले की रचना माना है। यह मत बहुत समीचीन लगता है क्योंकि इस्लामी शासन स्थापित होने के बाद वसंतविलास में चित्रित स्वच्छंद क्रीड़ापूर्ण नागरिक जीवन के समान चित्र हमारे साहित्य में नहीं के बराबर मिलते हैं। वसंतविलास में वर्णित क्रीड़ा-वन का वर्णन कवि कल्पना प्रसूत नहीं लगता, वह प्रत्यक्ष जैसा वर्णन है, उदाहरणार्थ—

'नयर निरोपीय ती वन जीवनु तरुणउ युवान।
वास भुवनि तिहां विलसइ जलसइं अलि अल आण॥

व० वि०—छंद १३

अर्थात् ये क्रीडावन नगर द्वारा निरूपित होते थे, और नगर के युवा-युवती जनों के लिए जीवन (तुल्य) होते थे। इन क्रीडावनों में सुवास-भवन भी होते थे, जिनमें जलशयों (कमलों) पर अलिवृन्द का गान विलसित होता था।

कामुक जन मन जीवनु ती वनु नयन सुरंगु।
राजु करइ नव भंगिहि रंगिहि राउ अनंगु॥

व० वि०—छं० १५

अर्थ—कामुक जनों के मन तथा जीवन तुल्य यह क्रीडावन नगर में सुरंग (सुंदर) होता था और रंगियों का राजा काम उस वन में एक नव भंगिमा के साथ राज्य करता था।'

मूल पाठ का जो पुनर्निर्माण प्रो० गुप्त ने प्रस्तुत किया है वह निश्चित ही प्रो० ब्राउन के पाठनिर्णय से अधिक समीचीन और तर्कसंगत है। प्रो० ब्राउन ने सबसे छोटे पाठ को ही प्रामाणिक मान लिया है, इस पाठ में केवल ५० पदों को ही उन्होंने मान्यता दी है। प्रो० गुप्त ने पाठभेदों पर पूर्ण विचार करने के पश्चात् ८४ छंदों को मूल पाठ में स्थान दिया है। ९ छंदों को प्रक्षिप्त माना है जिन्हें उन्होंने परिशिष्ट में दे दिया है। प्रो० ब्राउन ने जिन ५० पद्यों का पुनर्निर्मित पाठ दिया है उस पाठ से श्री गुप्त के पाठ की तुलना करने पर प्रो० गुप्त द्वारा ग्रहीत पाठ ही संगत लगता है। कुछ प्रतियों में और यहाँ तक कि ब्राउन की एल संज्ञक प्रति में भी, जिसे उन्होंने मूल आधार माना है, संज्ञाओं के कर्ता, कर्म कारक के एक वचन रूप उकारान्त मिलते हैं फिर भी प्रो० ब्राउन ने उनके अकारान्त रूप ही ग्रहण किए हैं, डा० गुप्त ने उकारान्त रूप ग्रहीत किए हैं जो अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं,

कुछ स्थानों पर प्रसंग की दृष्टि से अधिक समीचीन पाठ गुप्तजी ने ग्रहण किए हैं—यथा—

'कामिनी पामइ' ( छंद ५० ) ब्राउन के 'कामिनी नाहुला' से ज्यादा तर्क संगत है।

अर्थ पर भी प्रो० गुप्त ने विशेष प्रकाश डाला है। पांडित्य की दृष्टि से भले ही ठीक हो किन्तु कहीं कहीं प्रो० ब्राउन के अर्थ क्लिष्ट कल्पना के प्रतीक हैं—यथा—निम्न पद्य बड़े छोटे सभी रूपान्तरों में मिलता है—

तिहाँ विलासइं सवि कामुक जामुक हृदय चइ रंगि।
काम जिसा अलवेसर वेस रचइं वर अंगि ॥११॥

प्रो० ब्राउन ने अलवेसर का अर्थ किया है अल < गुजराती आड-खूंटी तथा वेसर—गधा; गधे के सिर की आकृति की खूँटियाँ। उनका अर्थ है—

There all the lovers sport in pairs with joy of heart like kama.
The lovely woman hang their clothes on donkey-headed pegs.

प्रो० गुप्त ने अनेक प्राचीन ग्रंथों से उद्धरण देकर अर्थ किया है जो उचित लगता है। अलवेसर का अर्थ उन्होंने अल्पवयस किया है : पूरे पद्य का अर्थ किया है—'वहाँ ( उस वन में ) समस्त कामुक-जन हृदय के द्विगुण ( अथवा द्विगुणित ) उल्लास से विलास करते हैं और ( उनमें से ) जो अल्पवयस हैं, वे अंगों पर काम-देव के जैसे ( सुन्दर ) वेषों की रचना करते हैं।' ब्राउन के अनुवाद-अर्थ की तुलना में गुप्तजी के अर्थ साहित्यिक तथा प्रसंग की दृष्टि से निश्चित रूप से श्रेष्ठ हैं। कृति का 'अर्थ परिशिष्ट' अध्याय बहुत ही विद्वतापूर्ण है।

वसंतविलास की भाषा का विवेचन प्रो० ब्राउन ने प्रायः नहीं के बराबर किया है। गुप्त जी ने कृति की भाषा पर पूर्ण प्रकाश डाला है। संदेशरासक या तथाकथित अवहट्ट भाषा की अनेक विशेषताएँ वसंतविलास की भाषा में मिलती हैं। संज्ञाओं के निर्विभक्तिक रूप, विभक्तिसहित रूप, परसर्गों के प्रयोग संदेशरासक के समान ही मिलते हैं। संबंध कारक के लिए प्रयुक्त 'चा' 'ची' परसर्ग का प्रयोग 'बेलिक्रिसन रुक्मिणी री' में भी मिलता है। यथा 'बालकृति करि हंस चौ बालक' ( १२ ), 'सगपणा ची सनस रुषमणी सन्निधि' ( १३३ ) संबंध कारक के 'चा, ची, चे, चें,' परसर्ग मराठी में मिलते हैं। वसंतविलास में इनका प्रयोग मिलता है और बेलिक्रिसन रुक्मिणी री में भी। इससे हम कह सकते हैं कि पश्चिमी राजस्थानी और डिंगल में भी इनका प्रयोग होता था। संबंध कारक के परसर्गों के विभिन्न विकल्पों का मिलना 'चिन्त्य' बात नहीं है किन्तु भाषा के संबंध में जिन निष्कर्षों पर गुप्तजी पहुँचे हैं उनका समर्थन इन परसर्गों से होता है। वास्तव में प्राचीन हिंदी, गुजराती, के जो नमूने मिलते हैं उनमें अनेक समान विशेषताए मिलती हैं, यही बात पूर्वी नमूनों के विषय में भी मिलती है—

जैसे चर्यापदों में। वसतविलास फागु, रास, काव्यरूप की दृष्टि से या उसकी पुरानी भाषा की दृष्टि में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। आदिकालीन हिंदी काव्य के अध्ययन के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। भूमिका पृ० १ पर शायद १९५२ ई० गलत छप गया है, १९२२ होना चाहिए।

—रामसिंह तोमर

अभिलेख-सग्रह (सस्कृत शिलालेखों का सग्रह) सग्रहकर्ता तथा सपादक डा० बहादुरचद छाबड़ा, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६४, पृष्ठ 1-XXIV+१—१०४, मूल्य ८.५० रु०, विशेष सस्करण, ७ रु० साधारण सस्करण।

साहित्य अकादेमी ने राष्ट्रीय अभिरुचि की दृष्टि से प्रकाशन का प्रशसनीय कार्यक्रम निश्चित किया है और इस योजना के अतर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत कृति 'अभिलेख सग्रह' इसी प्रकार का एक प्रशसनीय प्रकाशन है। सस्कृत साहित्य से चुनकर सात खण्डों मे 'साहित्य रत्न कोश' नाम से जो संग्रह निकालने की योजना बनाई है उसी का प्रस्तुत ग्रथ छठा खण्ड है। प्रस्तुत कृति मे भारत तथा वृहत्तर भारत में प्राप्त सस्कृत शिलालेखो में से काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अशों का सकलन किया गया है। संग्रहीत उद्धारणों का चयन किसी निश्चित सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया गया प्रतीत होता। ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से इतिहासज्ञों के लिये तो सकलित पद्य महत्त्व के हैं ही किन्तु इनका महत्त्व काव्य की दृष्टि से भी है इसलिए काव्य रसिक भी उनकी ओर आकर्षित होंगे। प्रस्तुत सग्रह में काव्य की दृष्टि से शिलालेखीय काव्यों की विविधता तथा विस्तार का विवेचन नहीं किया गया। कदाचित् कृति की सीमित परिधि के कारण-यह सभव भी नहीं था। इस पठनीय कृति से फिर भी शिलालेखों में प्राप्त सस्कृत साहित्य की विशेषताओं का कुछ अनुमान मिल ही जाता है। वीर नरेशों के शौर्यपूर्ण कार्यों, राजाओं तथा श्रीमन्तो की दानशीलता तथा मदिरादि निमाण जैसे कार्यों का विवरण, बौद्ध स्तूपो तथा विहारो का निर्माण, सरोवर, कूप, वापि आदि के निर्माण कराने की सूचनाएँ मिलती हैं। इस प्रकार के साहित्य का प्रधान स्वर आश्रयदाता की प्रशसा से सबध रखता है, प्रशस्ति गायक कवियों के नाम का प्राय कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार की रचनाओं को 'वैदिक नाराशसी गाथाओं' का परवर्ती विकास कहा जा सकता है। इन पद्यबद्ध अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियों तथा आलकारिक गद्य में अलकारों का प्रचुर प्रयोग मिलता है और यत्र तत्र सच्चे काव्य की भी झांकी मिलती है, किन्तु यह झाँकी बहुत कम मिलती है, अत काव्य की दृष्टि से ये रचनाएँ साधारण कोटि की हैं।

इस सग्रह के लिए विद्वान सपादक के प्रति पाठकों को कृतज्ञ होना चाहिए, सस्कृत शिलालेखों के विशाल सग्रह में से उन्होंने कुछ उत्कृष्ट नमूने चुनकर प्रस्तुत किए हैं, कालक्रम

से उन्हें रखा है और प्रत्येक उद्धरण के नीचे शिलालेख के पूर्णप्रकाशन के संदर्भ का उल्लेख कर दिया है तथा प्रत्येक का उपयुक्त शीर्षक दिया है जिससे उद्धरणों के वर्ण्य विषय की सूचना मिल जाती है। मूल पाठ को देवनागरी लिपि में देकर उन्होंने बड़ा उपकार किया है। कृति के प्रारम्भ में संपादक ने भूमिका में हुए भारत में तथा अन्यत्र पुरातत्त्व विषयक कार्यों की चर्चा की है तथा प्रशस्तियाँ और शासनों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों की प्राप्ति के विषय में सूचनाएँ दी हैं। शिलालेखों में प्रमुख अलंकारों का भी विवेचन डाँ० छावड़ा ने किया है। उपमेयोपमा का अंग्रेजी में उन्होंने Reciprocity ( पृ० xix ) दिया है, शायद Reciprocal simile अधिक उपयुक्त होता इसी प्रकार विरोधाभास Contradiction ( पृ० xxi ) नहीं अपितु Apparent Contradiction है। कहीं कहीं छपाई की भूलें रह गई हैं। किन्तु कृति में विषयानुक्रमणिका और कवियों के नामों की सूची का अभाव खटकता है—यद्यपि यह सच है कि शीर्षक संपादक ने दिए हैं और अनेक प्रशस्तियों के रचयिता अज्ञात हैं। आश्रयदाताओं की भी सूची दी जानी चाहिए थी। हम आशा करते हैं कि साहित्य अकादेमी प्राकृत शिलालेखों का भी एक उत्तम संग्रह प्रकाशित करेगी।

—विश्वनाथ भट्टाचार्य

**सुदामा चरित्र**—हलधरदास कृत, सम्पादक-डा० सियाराम तिवारी, एम० ए०, पीएच० डी०, प्रकाशक—भारती भवन, पटना, १९६६। पृ० सं० ८५+१३९, मूल्य ५ रुपये।

हलधरदास ( १५२५-१६२६ ई० ) ने १५६५ ई० में दोहा, छप्पय, उल्लाला छंदों में सुदामा चरित्र की रचना की। हलधरदास बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के अंतर्गत पदमौल ग्राम के निवासी थे। ब्रजभाषा में रचित उनकी कृति सुदामा चरित्र के तीन मुद्रित संस्करणों की सूचना डा० तिवारी ने अपने सुसंपादित संस्करण में दी है। एक संस्करण कलकत्ता के बड़ा बाजार से लगभग १०६ वर्ष पूर्व संवत् १९१२ में निकला था, दूसरा एक और संस्करण कलकत्ता से ही श्रीनृत्यलाल शील के आदेश से आहीरी टोला से लगभग ९० वर्ष पहले निकला था, इस संस्करण के पाँच बार पुनर्मुद्रित होने की सूचना डा० तिवारी ने दी है, तीसरा एक और संस्करण किन्हीं पं० प्रेमन पांडे द्वारा संशोधित होकर खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से सन् १९०२ में निकला था। ये सभी संस्करण डा० तिवारी जैसे शोधप्रेमियों को ही उपलब्ध हो सकते हैं, इतने संस्करणों से सुदामाचरित्र की लोकप्रियता और सरसता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। डा० तिवारी ने मुद्रित प्रतियों के अतिरिक्त कृति की ३० से अधिक हस्तलिखित प्रतियों का अपने संस्करण में उपयोग किया है। देश के नाना संग्रहों से तथा इंगलैंड, फ्रांस, अमरीका के संग्रहालयों से भी कई प्रतियों के माईक्रोफिल्म मंगवाकर पाठ निर्धारण, संशोधन में उन्होंने उपयोग किया है। पाठ निर्धारण की जो पद्धति उन्होंने

अपनाई है उसका विस्तृत परिचय उन्होंने भूमिका में दिया है। पाठ भेदों को भी पादटिप्पणियों में उन्होंने विस्तार से दिया है। इन पाठ भेदों को देखकर संपादक द्वारा ग्रहीत पाठ की तर्क संगतता का अनुमान मिल सकता है। उसके द्वारा ग्रहीत पाठ ही वास्तव में उचित लगता है। पाठालोचन के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है तिवारी जी का कार्य उसकी प्रगति का अच्छा आदर्श प्रस्तुत करता है, और एक पग उसे और आगे बढ़ाता है।

हलधरदास की कृति बहुत ही सरस है। काव्य की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। भाषा की दृष्टि से भी उसमें अनेक उल्लेखनीय विशेषताएँ मिलती हैं। विद्वान संपादक ने कृतिकी भूमिका में सुदामाचरित्र के सभी अंगों का सम्यक् विवेचन किया है—सुदामाचरित्र काव्य की परंपरा के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए सैंतालीस कवियों की सुदामाचरित्र विषयक रचनाओं की तिवारी जी ने सूचना दी है। हलधरदास की भाषा का भी संक्षेप में अच्छा विश्लेषण किया है। कृति के प्रबंध विधान, रस योजना, अलंकार योजना छंदयोजना, आदि का अधिकारपूर्ण विवेचन डा० तिवारी ने किया है। कृति का रचयिता ब्रजभाषा क्षेत्र से दूर का निवासी था, अतः उसकी कृति में बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो सामान्य पाठक के लिए अपरिचित हो सकते हैं। ऐसे कठिन शब्दों के अर्थ संपादक ने कृति के अंत में दिए हैं। सुदामा चरित्र के ऐसे सुंदर और विद्वतापूर्ण संस्करण के लिए डा० तिवारी का हिंदी जगत् को कृतज्ञ होना चाहिए। कृति को पढ़कर काव्यरसिक विद्वान और भक्त सभी श्रेणी के पाठक आनंदित होंगे।

—कृष्णनन्दन दीक्षित

**ऊनिश विघा दुइ काठा**—फकीरमोहन सेनापति, अनु० मैत्री शुक्ल, प्रकाशक साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९६५, पृ० १३०, मूल्य रु० ५.००।

उन्नीसवीं शताब्दी नवजागरण-काल है। क्या बंगला साहित्य क्या उड़िया साहित्य, सबमें इस जागरण के अनेकों प्रमाण मिलते हैं। फकीरमोहन सेनापति के 'छ मान आठ गुण्ठ' नामक उड़िया उपन्यास का बंगला अनुवाद 'ऊनिश बिघा दुइ काठा' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। अनूदित उपन्यास होने पर भी ग्रंथ में उपन्यास-रस का वैसा कोई अभाव नहीं है। उपन्यास पढ़ने पर तत्कालीन समाज का एक पूर्ण चित्र मिलता है। विश्वास और सरलता का अवसर लेकर प्रभु के अन्न से परिपुष्ट और पूर्णआश्रित सेवक कितना हीन और घृणित कार्य कर सकता है, इसका जीता-जागता उदाहरण है रामचन्द्र मंगराज। धन या स्वार्थ के लिये किसी भी गर्हित कार्य में लिप्त होने में उसे द्विधा नहीं होती। छल-बल

कौशल से अर्थ-सम्पत्ति आत्मसात कर एक दिन राजा को भी रास्ते पर बैठाया जा सकता है, यह कहानी है उपन्यास में। धर्म का ढोल स्वयं ही बजता है; इसलिए अधर्म की लोलुप जिह्वा जब सम्पूर्ण-ग्रास करने के लिए उद्यत होती है, तभी धर्म का कालचक्र दिखाई पड़ता है। उसी चक्र में छिन्न-भिन्न होकर अधर्म का चिरविनाश होता है। परम अधार्मिक मंगराज की भी यही दशा हुई थी। उपन्यासकार के धर्म के इस शाश्वत सत्य को इस ग्रंथ में प्रतिष्ठित करने से ग्रंथ के मूल्य में यथेष्ट वृद्धि हुई है।

अनूदित उपन्यास की भाषा में प्रांजलता और सहजता होने पर भी यत्र-तत्र त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। उपन्यास की कथा २७ शीर्षकों में विभक्त न कर परिच्छेदों में बाँटने से रसहीनना नहीं होने पाती। नहीं तो, एक अखण्ड और अव्याहत रस की प्रवहमानता के कारण अनूदित ग्रंथ भी मूलग्रंथ के समान मर्यादा प्राप्त कर सकता था।

**चिं ड़ि**—शिवशंकर पिल्लाइ, अनु० बोम्माना विश्वनाथम्, प्रकाशक: साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली १९६५; पृ० २५९, मूल्य रु० ७·००।

शिवशंकर पिल्लइ रचित 'चेम्मीन' उपन्यास का बंगला अनुवाद 'चिं ड़ि' मूल उपन्यास के समान ही चित्ताकर्षक और हृदयग्राही बन पड़ा है। सुप्रसिद्ध पूर्व बंगाल की गीतिका में जो सुख-दुःख का हँसना-रोना, प्रेमालाप के चित्र हैं, उसी के अनुरूप चित्र इतस्ततः भारत के दक्षिण-पश्चिम प्रान्त केरल प्रदेश में भी मिलते हैं। बड़ी बड़ी नदियों या समुद्र के किनारे वाले अंचल में जो लोग रहते हैं, उन्हें अपनी जीविका का संधान कठिन परिश्रम से करना पड़ता है। ये समूह में रहते हैं। जब अच्छे दिन आते हैं तब ये लोग आमोद-प्रमोद से जीवन को पूर्ण कर लेना जानते हैं, और जब अभाव की कालिमा उनके सामने छा जाती है तब वे सोचते हैं कि उनके कृतकर्म के कारण ही जलदेवता का अभिशाप मिला है। शुद्ध शान्त एवं अतिपवित्र होकर वे पानी में जाते हैं, वे रीति-रिवाज मानते हैं। जलदेवता कारालाम्मा का निवास-स्थान समुद्र की अतल गहराई में है। वे दुराचारियों पर कुपित होकर उन्हें जल की अतल गहराई में खींच ले जाते हैं या कभी कभी सामुद्रिक सर्पकुल अथवा समुद्र-दानव तट पर आकर लोगों को डराता है। केवल शौर्य-वीर्य या साहस ही पुरुष के लिये काफी नहीं है, उसका जीवन-दण्ड है नारी का सतीत्व—यह उनका चिरकालीन विश्वास है। इसी सतीत्व की रक्षा न कर पाने पर उपन्यास की नायिका कारुतम्मा अपने जीवन में असफलता और व्यर्थता पाती है और उसके स्वामी को भी चरम दण्ड—प्राणविसर्जन—भुगातना पड़ा। उपन्यास के चरित्र यथोचित हुए हैं। कारुतम्मा का पति बालठमना अपूर्व धैर्यशील और परम साहसी है। वह अपने को समुद्र-देवता की ही सन्तान मानता है; इसीलिए

सा. क्र